प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी

मंत्री, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला

हीराबाग, बम्बई ४

दीपावली, वीर-नि० सं २४७७

वि० सं० २००७, सन् १९५०

मूल्य १॥)

मुद्रक—

अजितकुमार शास्त्री

अकलंक प्रेस,

सदरबाजार, देहली।

प्रकाशककी ओरसे

कविवर हस्तिमल्लके अञ्जनापवनंजय और सुभद्रा नाटकोंके बाद माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाका यह ४४ वाँ ग्रन्थ 'स्याद्वादसिद्धि' प्रकाशित हो रहा है। इस अपूर्ण ग्रन्थकी केवल एक ही हस्तलिखित प्रति मूडबिद्रीके जैनमठसे प्राप्त हुई थी, और उसीके आधारसे न्यायाचार्य पंडित दरबारीलालजी कोठियाने इसका सम्पादन और संशोधन किया है। इन्होंने इसके लिए काफी परिश्रम किया है और ग्रन्थका परिचय तथा सारांश लिखकर उसे जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी बना दिया है। इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं। 'ज्ञानोदय' सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजीने ग्रन्थका प्राक्कथन लिखकर ग्रन्थमाला को बहुत ही उपकृत किया है।

ग्रन्थकर्ता और उनके समयके सम्बन्धमें सम्पादकने विस्तार से चर्चा की है और यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि वादीभसिंह ईसाकी आठवीं-नवीं शताब्दिके विद्वान् हैं परन्तु मेरी समझमें वादि-राजसूरिस्मृत वादिसिंह और वादीभसिंह एक नहीं हैं और वादीभसिंह के गुरु पुष्पसेन और अकलंकदेवके सधर्मा पुष्पसेनकी एकता भी शंका-स्पद है। यदि गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणिके कर्ता ही स्याद्वाद-सिद्धिके रचयिता हैं तो वे उन पुष्पसेनके शिष्य थे जिनके संघका या जिनकी गुरुपरम्पराका कुछ पता नहीं है और जिनका पूर्व नाम ओडयदेव था। इस हालतमें वे श्री बी० शेषगिरि राव एम० ए० के अनुमानके अनुसार गंजाम (उड़ीसा) के आस-पासके मालूम होते हैं और उनका समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके लगभग होना चाहिए। मैंने अपने 'महाकवि वादीभसिंह' शीर्षक लेखमें* इन बातोंको विस्तार-

* जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४७७—८८

पूर्वक लिख चुका हूँ। जबतक और कोई नये पुष्ट प्रमाण उपस्थित न होते, तबतक मैं अपनी धारणाको बदलनेका कोई कारण नहीं देखता।

ग्रन्थमाला का ४५ वाँ ग्रन्थ जैन शिलालेखसंग्रह (द्वि०भाग) छप रहा है और आशा है कि वह इस वर्षके अन्त तक प्रकाशित हो जायगा।

हीराबाग, बम्बई
२०-८-५०

—नाथूराम प्रेमी,
मंत्री।

प्राक्कथन

—:०:—

भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी कन्नड़-शाखा द्वारा भंडार-सूची निर्माणके समय जो अनुपलब्ध ग्रंथ मिले थे उनमें वादीभसिंह सूरि द्वारा रचित स्याद्वादसिद्धि भी है। इसकी एकमात्र जीर्ण-शीर्ण खण्डित प्रति मूडबिद्रीके जैन भंडारसे उपलब्ध हुई थी।

प्रसन्नताकी बात है कि यह कृति दिगम्बर जैन साहित्यकी उद्धारक प्राच्य संस्कृत-ग्रन्थावलि माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला-से इस विषयके अध्ययन-प्रवण विद्वान् पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो रही है। दर्शनग्रंथोंके सम्पादनमें अब आन्तरिक विषय-परिचयका भी एक विभाग रहना चाहिए, जिसमें ग्रन्थगत विषयोंका मुद्देवार संक्षिप्त सार आ जाय। इससे जिज्ञासुओंकी अंशतः जिज्ञासा-तृप्ति तो होगी ही, साथ ही साथ इस साहित्यके प्रचार, पठन-पाठन आदिकी ओर अभिरुचि भी जागृत होगी।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम तो स्याद्वादसिद्धि है, पर इसमें जीव-सिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि, जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि आदि अनेक प्रकरण हैं। ग्रन्थकारका स्पष्ट आशय है कि सब प्राणी सुख चाहते हैं पर सुखके उपायका उन्हें ज्ञान नहीं है। अतः इस सुखका कारण धर्म और धर्मकर्तृत्व कैसे जीवके हो सकता है इसका निरूपण करते हैं। स्याद्वादके विषयभूत जीवमें ही धर्मका कर्तृत्व और उसके फलका भोक्तृत्व बन सकता है यह प्रतिपादन करनेके प्रसंगसे ही अन्य प्रकरणोंका निर्माण हुआ है।

अनेकान्त दर्शनकी पृष्ठभूमि—

ज्ञान सदाचारको जन्म दे सकता है यदि उसका उचित दिशामे उपयोग हो। अतः ज्ञान मात्रज्ञान होनेसे ही सदाचार और शान्तिवाहकके पदपर नहीं पहुंच सकता। हाँ, जो ज्ञान जीवन-साधनासे फलित होता है उस स्वानुभवका तत्त्वज्ञानत्व और जीवनोन्नायक सर्वोदयी स्वरूप निर्विवादरूपसे स्वतः सिद्ध है। पर प्रश्न यह है कि तत्त्वज्ञानके विना क्या केवल आचरण मात्रसे जीवनशुद्धि हो सकती है और उसकी धारा चल सकती है? क्या कोई भी धर्मपन्थ, समाज या संघमें बिना तत्त्वज्ञानके सदाचार मात्रसे, जो कि प्रायः सामान्यरूपसे सभी धर्मोंमे संस्कृत है, अपनी उपयोगिता और विशेषता बना सकता है? और अपने अनुयायिओंकी श्रद्धाको जीवित रख सकता है?

बुद्धका अव्याकृतवाद—

बुद्ध और महावीर समकालीन, समदेश और सम-संस्कृतिके प्रतिनिधि थे। उक्त प्रश्नोंके सम्बन्धमें बुद्धका दृष्टिकोण था कि आत्मा, लोक, परलोक आदिके शाश्वत, अशाश्वत आदि विवाद निरर्थक हैं। वे न तो ब्रह्मचर्यके लिए उपयोगी हैं और न निर्वेद, उपशम, अभिज्ञा, संबोध या निर्वाणके लिये ही।

मज्झिमनिकाय (२।२।३) के चूलमालुंक्यसूत्रका संवाद इस प्रकार है—

"एक बार मालुंक्यपुत्तके चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि—भगवान्ने इन दृष्टियोंको अव्याकृत (अकथनीय) स्थापित (जिनका उत्तर रोक दिया गया) प्रतिक्षिप्त (जिनका उत्तर देना अस्वीकृत हो गया) कर दिया है—१ लोक शाश्वत है? २ लोक

अशाश्वत है ? ३ लोक अन्तवान् है ? ४ लोक अनन्त है ? ५ जीव और शरीर एक है ? ६ जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ? ७ मरनेके बाद तथागत होते हैं ? ८ मरनेके बाद तथागत नहीं होते ? ९ मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं ? १० मरनेके बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते ? इन दृष्टियों को भगवान मुझे नहीं बतलाते, यह मुझे नहीं रुचता = मुझे नहीं खमता। सो मैं भगवानके पास जाकर इस बातको पूछूँ। यदि मुझे भगवान कहेंगे तो मैं भगवानके पास ब्रह्मचर्य-वास करूँगा। यदि मुझे भगवान न बतलायेंगे तो मैं भिक्षु-शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (गृहस्थाश्रम) में लौट जाऊँगा।

मालुंक्यपुत्तने बुद्धसे कहा कि यदि भगवान उक्त दृष्टियोंको जानते हैं तो मुझे बतायें। यदि नहीं जानते तो न जानने समझने के लिए यही सीधी (बात) है कि वह (साफ कह दें) मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम।"

बुद्धने कहा—

"क्या मालुंक्यपुत्त, मैंने तुमसे यह कहा था कि आ मालुंक्यपुत्त, मेरे पास ब्रह्मचर्यवास कर, मैं तुझे बतलाऊँगा लोक शाश्वत है, आदि।"

"नहीं, भंते" मालुंक्यपुत्तने कहा।

"क्या तूने मुझसे यह कहा था—मैं भन्ते, भगवानके पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, भगवान मुझे बतलायें लोक शाश्वत है, आदि।"

"नहीं, भंते"

"इस प्रकार मालुंक्यपुत्त न मैंने तुझसे कहा था कि आ......;

न तूने मुझसे कहा था कि भते" " । फिर मोघ पुरुष (फजूलके आदमी) तू क्या होकर किसका प्रत्याख्यान करेगा ?

मालुंक्यपुत्त, जो ऐसा कहे—मैं तब तक भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास न करूँगा जब तक भगवान् मुझे यह न बतलावें—लोक शाश्वत है आदि। फिर तथागतने तो उन्हे अव्याकृत किया है और वह (बीचमे ही) मर जायगा। जैसे मालुंक्यपुत्त, कोई पुरुष गाढ़े लेप वाले विषसे युक्त बाणसे बिंधा हो उसके हितमित्र भाई-बन्धु चिकित्सकको ले आवे और वह (घायल) यह कहे—मैं तब तक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा जब तक अपने वेधने वाले उस पुरुषको न जान लूँ कि वह ब्राह्मण है ? क्षत्रिय है ? वैश्य है ? शूद्र है ? अमुक नामका अमुक गोत्रका है ? लंबा है नाटा है मंझोला है ? आदि। जब तक कि उस वेधने वाले धनुषको न जान लूँ कि वह चाप है या कोदंड। ज्याको न जान लूँ कि वह अर्ककी है या संठेकी ? तो मालुंक्यपुत्त वह तो अज्ञात ही रह जायँगे और यह पुरुष मर जायगा। ऐसे ही मालुंक्यपुत्त जो ऐसा कहे तब तक और वह मर जायगा। मालुंक्यपुत्त, 'लोक शाश्वत है' इस दृष्टिके होने पर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा नहीं। 'लोक अशाश्वत है' इस दृष्टिके होने पर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा भी नहीं। मालुंक्यपुत्त, चाहे लोक शाश्वत है यह दृष्टि रहे, चाहे लोक अशाश्वत है यह दृष्टि रहे, जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक रोना कांदना दुःख दौर्मनस्य परेशानी हैं ही, जिनके इसी जन्ममे विधानको मैं बतलाता हूं। ....

इसलिये मालुंक्यपुत्त मेरे अव्याकृतको अव्याकृतके तौरपर धारण कर और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तौरपर धारण कर* ?"

---

*मज्झिमनिकाय हिन्दी अनुवाद।

इस संवादसे निम्न लिखित बातें फलित होती हैं—

१. बुद्धने आत्मा, लोक, परलोक आदि तत्त्वोंकी चर्चामें न अपनेको उलझाया और न शिष्योंको।

२. लोकको चाहे शाश्वत माना जाय या अशाश्वत। उससे ब्रह्मचर्य धारण करनेमें कोई बाधा नहीं है।

३. बुद्धके उपदेशको धारण करनेकी यह शर्त भी नहीं है कि शिष्यको उक्त तत्त्वोंका ज्ञान कराया ही जाय।

४. बुद्धने जिन्हें व्याकृत कहा उन्हें व्याकृत रूपसे और जिन्हें अव्याकृत कहा उन्हें अव्याकृत रूपसे ही धारण करना चाहिये।

उस समयका वातावरण—

आजसे २५००-२६०० वर्ष पहलेके धार्मिक वातावरणपर निगाह फेंके तो मालूम होगा कि उस समय लोक, परलोक, आत्मा आदिके विषयमें मनुष्यकी जिज्ञासा जग चुकी थी। वह अपनी जिज्ञासाको अनुपयोगिताके आवरणमें भीतर ही भीतर मानसिक हीनताका रूप नहीं लेने देना चाहता था। जिन दस प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा, उनका बताना अनुपयोगी रहा, मगर पूछा जाय तो धर्म धारण करनेकी आधारभूत बातें ये ही हैं। यदि आत्माके स्वतन्त्र द्रव्य और परलोकगामित्वका विश्वास न हो तो धर्मका आधार ही बदल जाता है। प्रज्ञा-पारमिताओंकी परिपूर्णताका क्या अर्थ रह जाता है? 'विश्वके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? वह कैसा है?' यह बोध हुए बिना हमारी चर्चाका संयम रूप ही क्या हो सकता है? यह ठीक है कि उनके वाद-विवादमें मनुष्य न पड़े। पर यदि जरा, मरण, वेदना, रोग आदि के आधारभूत आत्माकी ही प्रतीति न हो तो दुस्तर सन्तानसंधान

कौन धारण करें ? बुद्धके समयमें ६ परिव्राजक थे। जिनके संघ थे और जिनकी तीर्थंकरके रूपमे प्रसिद्धि थी। सबका अपना तत्त्वज्ञान था। पूर्णकश्यप अक्रियावादी, मक्खलिगोसाल दैववादी, अजितकेशकम्बल जड़वादी, प्रकुधकात्यायन अकृततावादी, और संजय वेलट्ठिपुत्त अनिश्चयवादी थे। वेद और उपनिषद् के भी आत्मा, परलोक आदिके सम्बन्धमे अपने विविध मतवाद थे। फिर श्रमणसंघमे दीक्षित होने वाले अनेक भिक्षु उसी औपनिषद् तत्त्वज्ञानके प्रतिनिधि वैदिक वर्गसे भी आये थे। अतः जब तक उनकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होगी तब तक वे कैसे अपने पुराने साथियोंके सन्मुख उन्नतशिर होकर अपने नये धर्म धारण की उपयोगिता सिद्ध कर सकेंगे ? अत. व्यावहारिक दृष्टिसे भी इनके स्वरूपका निरूपण करना उचित ही था। तीरसे घायल व्यक्तिका तत्काल तीर निकालना इसलिये प्रथम कर्त्तव्य है कि उसका असर सीधा शरीर और मनपर हो रहा था। यदि वह विषैला तीर तत्काल नहीं निकाला जाता तो उसकी मृत्यु हो सकती है। पर दीक्षा लेनेके समय तो प्राणोंका अटकाव नहीं है। जब एक तरफ यह घोषणा है—

"परीक्ष्या भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो नत्वादरात्" अर्थात् भिक्षुओ, मेरे वचनोंको अच्छी तरह परीक्षा करके ही ग्रहण करना, मात्र मुझमे आदर होनेके कारण नहीं।" तो दूसरी ओर बुद्धके प्रश्नोंको अव्याकृत रखकर और उन्हे मात्र श्रद्धासे अव्याकृत रूपमे ही ग्रहण करनेकी बात कहना सुसंगत तो नहीं मालूम होता।

महावीरकी मानस अहिंसा—

भगवान् महावीरने यह अच्छी तरह समझा कि जब तक बुनियादी तत्त्वोंका वस्तुस्थितिके आधारसे यथार्थ निरूपण नहीं

होगा तब तक संघर्ष चलेगा व्यक्तियोंका मानस रागद्वेष आदि पशुभूमिकासे ऊपर उठकर तटस्थ अहिंसाकी भूमिपर आ ही नहीं सकता और मानस संतुलनके बिना वचनोंमें तटस्थता और निर्दोषता आना संभव ही नहीं। कायिक आचार भले ही हमारा संयत और अहिंसक बन जाय पर इससे आत्मशुद्धि तो हो नहीं सकती। इसके लिये तो मनके विचारोंको और वाणीकी वितंडा प्रवृत्तिको रास्तेपर लाना ही होगा। इसी विचारसे अनेकान्त दर्शन तथा स्याद्वादका आविर्भाव हुआ। महावीर पूर्ण अहिंसक योगी थे। उनको परिपूर्ण तत्त्वज्ञान था। वे इस बातकी गम्भीर आवश्यकता समझते थे कि तत्त्वज्ञानके पायेपर ही अहिंसक आचारका भव्य-प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। दृष्टान्तके लिये हम यज्ञ-हिंसा सम्बन्धी विचारको ही लें। याज्ञिकोंका यह दर्शन था कि पशुओंकी सृष्टि स्वयम्भूने यज्ञके लिये ही की है, अतः यज्ञमें किया जाने वाला वध वध नहीं है, अवध है। इसमें दो बातें हैं—१ ईश्वरने सृष्टि बनाई है और २ पशुसृष्टि यज्ञके लिये ही है। अतः यज्ञमें किया जाने वाला पशुवध विहित है।

इस विचारके सामने जब तक यह सिद्ध नहीं किया जायगा कि—"सृष्टिकी रचना ईश्वरने नहीं की है किन्तु यह अनादि है। जैसी हमारी आत्मा स्वयं सिद्ध है वैसी ही पशुकी आत्मा भी। जैसे हम जीना चाहते हैं, हमें अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही पशुको भी। इस लोकमें किये गये हिंसापापसे परलोकमें आत्माको नरकादि गतियोंमें दुःख भोगना पड़ते हैं। हिंसासे आत्मा मलिन होता है। यह विश्व अनन्त जीवोंका आवास है। प्रत्येकका अपना स्वयं-सिद्ध स्वातन्त्र्य है, अतः मन वचन कायगत अहिंसक आचार ही विश्वमें शान्ति ला सकता है।" तब तक किसी समझदारको यज्ञवधकी निःसारता, अस्वाभाविकता और पापरूपता कैसे समझमें आ सकती है।

जब शाश्वत-आत्मवादी अपनी सभामे यह उपदेश देता हो कि आत्मा कूटस्थ नित्य है, निर्लेप है, अवध्य है, कोई हिंसक नही, हिंसा नही और उच्छेदवादी यह कहता हो कि मरने पर यह जीव पृथिवी आदि भूतोंमे मिल जाता है, उसका कोई अस्तित्व नही रहता। न परलोक है और न मुक्ति ही। तब आत्मा और परलोकके सम्बन्धमे मौन रखना तथा अहिंसा और दुःख-निवृत्तिका उपदेश देना सचमुच विना नींवके मकान वनानेके समान ही है। जिज्ञासु पहिले यह जानना चाहेगा कि वह आत्मा क्या है, जिसे जन्म, जरा, मरण आदि दुःख है और जिसे ब्रह्मचर्य-वासके द्वारा दुःखोंका नाश करना है? यदि आत्माकी जन्मसे मरण तक ही सत्ता है तो इस जन्मकी चिन्ता ही मुख्य करनी है। और यदि आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है तो उसे निर्लिप्त मानने पर ये अज्ञान, दुःख आदि कैसे आए? यही वह पृष्ठभूमि है जिसने भ० महावीरको सर्वांगीण अहिंसाकी साधनाके लिये मानस अहिंसाके जीवनरूप अनेकान्तदर्शन और वाचनिक अहिंसाके निर्दुष्टरूप स्याद्वादकी विवेचनाके लिये प्रेरित किया।

अनेकान्त दर्शन—

अनन्त स्वतन्त्र आत्माएँ, अनन्त पुद्गलपरमाणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असख्य कालाणुद्रव्य के समूहको ही लोक या विश्व कहते है। इनमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका विभाव परिणमन नही होता। वे अपने स्वाभाविक परिणमनमे लीन रहते हैं। आत्मा और पुद्गल द्रव्योंके परस्पर सम्बन्धसे ये शरीर, इन्द्रियां आदि तथा पुद्गलों के परस्पर संयोग-विभागसे ये पर्वत, नदी, पृथिवी आदि उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते है। इनका नियन्ता कोई ईश्वर नहीं है। सब अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणमनमे अपने अपने संयोग-

विरोधोंके स्वभावमें नाना आकारोंको धारण करते रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मोंका अविरोधी अखंड आधार है। उसके विराट् रूपको शब्दोंसे पकड़ना असंभव है। उस अनन्तधर्मा या अनेकान्त वस्तुके एक-एक धर्मको जानकर और उस अंशग्रहमें पूर्णताका भान करने वाले ये मतवाद हैं जो पक्षभेदकी सृष्टि करके राग-द्वेष, संघर्ष, हिंसाको बढ़ा रहे हैं। अतः मानस अहिंसाके लिये वस्तुके 'अनेकान्त' स्वरूप दर्शनकी आवश्यकता है। जब मनुष्य वस्तुके विराट् रूप तथा अपने ज्ञानकी आंशिक गतिको निष्पक्ष भावसे देखेगा तो उसे सहज ही यह भान हुए बगैर नहीं रह सकता कि—दूसरोंके ज्ञान भी वस्तुके किसी एक अंशको जान रहे हैं अतः उनकी सहानुभूति-पूर्वक समीक्षा होनी चाहिए। अपने पक्षके दुरभिनिवेशवश दूसरेका बिना विचारे तिरस्कार नहीं होना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुमें विचार करनेकी पद्धति अनेकान्तदर्शनका ही फल है।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने गुण और पर्याय रूपसे परिणमन करता हुआ अनन्त धर्मोंका युगपत् आधार है। हमारा ज्ञान स्वल्प है। हम उसके एक-एक अंशको छूकर उसमें पूर्णताका अहंकार—'ऐसा ही है' न करें, उसमें दूसरे धर्मोंके 'भी' अस्तित्वको स्वीकार करें। यह है वह मानस उस भूमिका जिसपर चलनेसे मानस राग, द्वेष, अहंकार, पक्षाभिनिवेश, साम्प्रदायिक तमाशा, हठवाद, वितण्डा, संघर्ष, हिंसा, युद्ध आदि नष्ट होकर परस्परादर, तटस्थ सहानुभूति, माध्यस्थभाव, मैत्री-भावना, सहिष्णुता, वीतरागकथा, अन्ततः विनय, कृतज्ञता, दया आदि सात्त्विक मानस अहिंसाका उदय होता है। यही अहिंसक सत्यशोधका फल है। आचार्योंने ज्ञानका स्वरूप फल उपेक्षा—राग-द्वेष न होकर कल्याणस्वरूप भावना उदय ही बताया है।

स्याद्वाद अमृतभाषा—

इस तरह जब मानस अहिंसाकी सात्त्विक भूमिकापर यह मानव आजाता है तब इसके पशुका नाश हो जाता है, दानव मानवमें बदल जाता है। तब इसकी वाणीमे सरलता, स्नेह, समादर, नम्रता और निरहङ्कारता आदि आ जाते हैं। स्पष्ट होकर भी विनम्र और हृदयग्राही होता है। इसी निर्दोष भाषाको स्याद्वाद कहते हैं। स्यात्-वाद अर्थात् यह वात स्यात्—अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे वाद—कही जा रही है। यह 'स्यात्' शब्द ढुलमुल यकीनी, शायद, संभवतः, कदाचित् जैसे संशयके परिवारसे अत्यन्त दूर है। यह अंश निश्चयका प्रतीक है और भाषाके उस डंकको नष्ट करता है जिसके द्वारा अंशमें पूर्णताका दुराग्रह, कदाग्रह और हठाग्रह किया जाता है। यह उस सर्वहारा प्रवृत्ति को समाप्त करता है जो अपने हकके सिवाय दूसरोंके श्रम और अस्तित्वको समाप्त करके संघर्ष और हिंसाको जन्म देती है। यह स्यात्वाद रूपी अमृत उस महान् अहङ्कार-विषमज्वरकी परमौषधि है जिसके आवेशमें यह मानवतनधारी तूफान या ववूलेकी तरह जमीनपर पैर ही नहीं टिकाता और जगत्में शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, धर्मदिग्विजय, मतविस्तार जैसे आवरण लेता है। दूसरोंको विना समझे ही नास्तिक, पशु, मिथ्यात्वी, अपसद, प्राकृत, ग्राम्य, धृष्ट आदि सभ्य गालियोंसे सन्मानित (?) करता है। 'स्याद्वाद' का 'स्यात्' अपनेमे सुनिश्चित है। और महावीरने अपने संघके प्रत्येक सदस्यकी भाषाशुद्धि इसीके द्वारा की। इस तरह अनेकान्तदर्शनके द्वारा मानसशुद्धि और स्याद्वादके द्वारा वचनशुद्धि होनेपर ही अहिंसाके वाह्याचार, ब्रह्मचर्य आदि सजीव हुए, इनमे प्राण आए और मन, वचन और कायके यत्नाचारसे इनकी अप्रमाद परिणतिसे अहिंसामन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठा हुई। महावीरने वार-

बार चेतावनी दी कि 'समयं गोयम मा पमायए'—गौतम ! इस आत्मसमृद्धिकी प्राणप्रतिष्ठामें क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

आचारकी परम्पराका मुख्य पाया तत्त्वज्ञान —

इस तरह जब तक बुनियादी बातोंका तत्त्वज्ञान न हो तो केवल सदाचार और नैतिकताका उपदेश सुननेमें सुन्दर लगता है पर वह बुद्धि, तर्क, जिज्ञासा, मीमांसा, समीक्षा और समालोचना की तृप्ति नहीं कर सकता। जब तक संघके ये मानस विकल्प नहीं हटेंगे तब तक ये बौद्धिक हीनता मानस दीनताके तामस भावोंसे त्राण नहीं पा सकते और जिनसे यथार्थ निर्वैर वृत्तिका उदय नहीं कर सकते। जिस आत्माके यह सब होता है यदि उसके ही स्वरूपका भान न हो तो मात्र अनुपयोगिताका सामयिक समाधान शिष्योंके मुँहको बन्द नहीं रख सकता। आखिर मालुंक्य-पुत्तने बुद्धको साफ साफ कह दिया कि आप यदि नहीं जानते तो साफ साफ क्यों नहीं कहते कि मैं नहीं जानता—मुझे नहीं मालूम।

जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत कहा उनका महावीरने अनेकान्त दृष्टिसे स्याद्वाद भाषामें निरूपण किया*। उनने आत्माको द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत, पर्यायदृष्टिसे अशाश्वत बताया। यदि आत्मा कूटस्थ, नित्य, सदा अपरिवर्तनशील माना जाता है तो पुण्य पाप सब व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि उनका असर आत्मापर तो पड़ेगा नहीं। यदि आत्मा क्षण-विनश्वर और धाराविहीन, निःसन्तान, सर्वथा नवोत्पाद वाला है तो भी कृत कर्मोंकी निष्फलता होती है, परलोक नहीं बनता। अत. द्रव्य-दृष्टिसे

* देखो प्रो० दलसुख मालवणिया लिखित जैनतर्कवार्तिककी प्रस्तावना।

धाराप्रवाही, प्रतिक्षण-परिवर्तित संस्कारग्राही आत्मामें ही पुण्य-पापकर्तृत्व, सदाचार, ब्रह्मचर्यवास आदि सार्थक होते हैं। इनमें न औपनिषदोंकी तरह शाश्वतवादका प्रसंग है और न जड़वादियों की तरह उच्छेदवादका डर है। और न उसे उभयनिषेधक 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' जैसे विधिविहीन शब्दसे निर्देश करनेकी ही आवश्यकता है।

यही सब विचार कर भ० महावीरने लोक, परलोक, आत्मा आदि सभी पदार्थोंका अनेकान्तदृष्टिसे पूर्ण विचार किया और स्याद्वादवाणीसे उसके निरूपणका निर्दोष प्रकार बताया। यही जैन दर्शनकी पृष्ठभूमि है जिसपर उत्तरकालीन आचार्योंने शता-वधि ग्रन्थोंकी रचना करके भारतीय साहित्यागारको आलोकित किया। अकेले 'स्याद्वाद' पर ही बीसों छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे गये हैं।

इस अनेकान्तके विशाल सागरमें सब एकान्त समा जाते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके शब्दोंमें ये स्याद्वादमय जिनवचन मिथ्यादर्शनके समूहरूप हैं (इसमें समस्त मिथ्यादृष्टियां अपनी अपनी अपेक्षासे विराजमान हैं) और अमृतसार या अमृतस्वादु हैं। वे तटस्थवृत्तिवाले संविग्न जीवोंको अतिशय सुखदायक हैं। वे जगत्का कल्याण करें—

"भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥"

प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिमें इसीलिये स्याद्वादके प्रसंगसे सर्वथा नित्यत्व-अनित्यत्व आदिका निराकरण अनेक प्रकरणोंमें करके अन्तमें यही दिखाया गया है कि नित्यानित्यात्मक स्याद्वादरूप आत्मामें ही पुण्यपापकर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि बन सकते हैं। वही सुखके लिये प्रयत्न कर सकता है।

दो जिससे ये टिमटिमाते रहे और जगत्को अपने अस्तित्वका भान कराते हुए प्रकाशपथ सुझावें।

समाजमें विद्वानोंकी संख्या सैकड़ोंमें है। पर इस ज्ञानयज्ञके होता कितने है? और समाजने बुद्धिपूर्वक कितनोंको इस ओर प्रेरित किया? यह प्रश्न ठंडे दिलसे उद्धारक वृत्तिसे सोचनेका है? आशा है इस नम्र और स्पष्ट निवेदन पर ध्यान जायगा।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२-८-५०

महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
(स० मूर्तिग्रंथमाला भारतीय ज्ञानपीठ)

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
नेष्यतः (ष्टिता)	नेष्यतः (ते)	२	१
सदहेतुकाता-	सदहेतुकता-	३	८
च्चिच्चेत	चिच्चेति	१२	११
अन्यंरश्चा-	अन्यैरश्चा-	३३	१
वर्णोप	वर्णेपु	३४	१३
स्यस्तत्र	सर्वस्तत्र	३४	१४
वर्णादे-	वर्णादि-	३४	२२
तद्रुपमर्दनकार्या-	तदुपमर्दनं कार्या-	४०	२०
गुणत्वस्यविशे-	गुणत्वस्याविशे-	४७	१४
सशीत्य-	संशीत्य-	४८	१८

सम्पादनके विषयमें

आरम्भ और पर्यवसान

सन् १९४० में श्रीयुत पं० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिद्रीकी कृपासे इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई। उस समय मैं अन्य ग्रन्थोंके सम्पादन-कार्यमें लगा हुआ था और इसलिये इसे सरसरी दृष्टिसे ही देख सका। इसके बाद यह कोई डेढ़ वर्ष तक वैसा ही पड़ा रहा। बादमें अवकाश मिलने पर इसे पुनः गौरसे देखा तो ग्रन्थ बहुत महत्वपूर्ण जान पड़ा, और तब अगस्त १९४८ में 'अनेकान्त' वर्ष ९, किरण ८ में 'वादीभसिंह सूरिकी एक अधूरी अपूर्व कृति—स्याद्वादसिद्धि' शीर्षक लेख द्वारा इस ग्रन्थका विस्तृत परिचय दिया और लिखा कि—'हम उस दिनकी प्रतीक्षामें हैं, जब वादीभसिंहकी यह अमर कृति प्रकाशित होकर विद्वानोंमें अद्वितीय आदरको प्राप्त करेगी और जैनदर्शनकी गौरवमय प्रतिष्ठाको बढ़ावेगी। क्या कोई महान् साहित्य-प्रेमी इसे प्रकाशित कर महान् श्रेयका भागी बनेगा और ग्रन्थ-ग्रन्थकारकी तरह अपनी उज्ज्वल कीर्तिको अमर बना जायेगा।' इसे पढ़कर श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीने ३ नवम्बर १९४८ को हमें एक पत्र लिखा—

'क्या इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है? जो प्रति उपलब्ध है, क्या अकेली उसी परसे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा सकता है? क्या आप इसे सम्पादित कर देनेके लिये समय निकाल सकते हैं? मैं चाहता हूँ कि यदि हो सके तो यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे छपा दिया जाय। इधर ६-७ वर्षसे ग्रन्थमालामें कोई ग्रन्थ नहीं छपा।'

प्रेमीजीके इस पत्रको प्राप्त कर हमने इसके सम्पादनादिकी

उन्हें सहर्ष स्वीकारता दे दी और ७ नवम्बर १९४८ को उसका कार्यारम्भ भी कर दिया। परन्तु ग्रन्थकी प्राप्त प्रतिलिपि बहुत ही अशुद्ध और त्रुटित होनेसे प्रेसकापीका मूल ताडपत्रीय प्रतिसे, जो मूडविद्रीके जैन-मठके भण्डारमे सुरक्षित है और जिसके वहाँ होनेका पता पीछे मालूम पड़ा, मिलान किये विना उसे प्रेसमे देना उचित एवं इष्ट नही समझा। अ.त. उसे मंगानेके लिये हमने पं० के० भुजबलिजी शास्त्रीको पत्र लिखा। शास्त्रीजीने उक्त प्रति हमे तुरन्त भेज दी। पर मूल प्रति कन्नड लिपिमें होने तथा सरसावामे आसपास उसका कोई जानकार न होनेसे ग्रन्थका काम दो-ढाई महिने रुका पड़ा रहा। १८ फरवरी १९४९ को जब युक्त्यनुशासनके मिलानकार्यसे बनारस जाना पड़ा तो वहाँ पं० देवरभट्टजी न्यायाचार्यके साथ, जो कन्नड तथा संस्कृत दोनोंके योग्य विद्वान् है, इसका मूल प्रतिसे मिलान किया गया। मिलान करने पर प्राय. सभी अशुद्ध पाठ ठीक होगये और कुछ त्रुटित पाठ भी पूरे होगये, क्योंकि मूल ताडपत्र प्रति प्रायः शुद्ध है और अच्छी तरह पढ़ी जाती है। मिलानसे जो सबसे बड़ा फायदा हुआ वह यह हुआ कि प्राप्त प्रतिलिपिमे जो चौदहवे प्रकरण-की ५७ से ७० तक १४, ब्रह्मदूषणसिद्धि प्रकरणकी ५२ से १८९ तक १३८ और अन्तिम प्रकरणकी ६३ = १५८३ के लगभग कारि-काएँ एवं उपलब्ध अन्तिम डेढ़-दो अधूरे प्रकरण छूटे हुए थे वे सब इस मिलानसे प्रकाशमे आगये। आश्चर्यकी बात है कि इतनी कारिकाएँ एवं प्रकरण-के-प्रकरण लेखकने छोड़ दिये थे!

यहाँ उल्लेखनीय है कि इसी मिलानके दौरानमें माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे भी इस ग्रन्थकी एक प्रतिलिपि प्राप्त होगई, जो उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये कन्नड-शालाद्वारा कराई थी। इसमे उक्त सब कारिकाएँ व प्रकरण मौजूद है।

फिर भी ६७० जितनी कारिकाओंवाला भी यह ग्रन्थरत्न जै
दार्शनिक ग्रन्थोंके कोषागारको अपनी आभासे चमचमा दे
और उनमे प्रमुख स्थान ग्रहण करेगा। यह ताडपत्रीय प्र
अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण है और दीमकोंने उसके आदि, मध्य औ
अन्तके हिस्सोंको खा लिया है तथा अन्तके तीन पत्रोंको
उन्होंने वहुत ही ज्यादा खा लिया है—पाद-के-पाद औ
कारिकाएँ-की-कारिकाएँ नष्ट होगई है। यह प्रति अनुमान
एक हजार वर्पसे कमकी पुरानी नहीं होगी। पत्र लम्वेनुमा है औ
एक-एक पत्रके तीन-तीन भाग है तथा प्रत्येक भागमे ६–६ पंक्ति
एवं प्रत्येक पंक्तिमे लगभग ६३-६३ अक्षर है। एक पृष्ठमे २५ अथव
एक पत्रमे ५० कारिकाएँ है। काश ! यह १४ पत्रात्मक प्रति भी
मिली होती तो जैन-वाङ्मयकी इस अमर कृतिके सम्वन्ध
इन दो शब्दोंके लिखनेका भी अवसर न मिलता।

२. स प्रति—आरम्भमे हमे यही प्रति मिली थी और जि
परसे प्रेसकापी तैयार करनेमें इसके काफी अशुद्ध होनेसे दुहर
तिहरा परिश्रम करना पड़ा। यह सरसावाबोधक 'स' नामक प्र
है। इसमे ८६ पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठमे ११–११ पंक्तियाँ तथ
एक-एक पंक्तिमे प्रायः १८–१८ अक्षर हैं। कागज २०×३०/८ पेज
वादामी रंगका है और प्रतिलिपि नीली स्याहीसे लिखी पुष्ट है
इसमें कारिकाओंकी संख्या ताडपत्र प्रतिके अनुसार प्रकरणग
न देकर समग्र ग्रन्थकी दी है और वह १ से लेकर ५०१ तक है
कहीं-कही यह संख्या गलत भी लिखी गई है और 'अभाव
प्रमाणदूपणसिद्धि' नामके १२ वें प्रकरणमे ४२१ की संख्याके बा
अगली कारिकाकी, जिसकी प्राकरणिक क्रमसंख्या १३ है, ४२
न लिखकर ४२२ लिखी गई है और इस तरह आगे सव जगह
११ कारिकाओंका फेर पड़ गया है।

६. क प्रति—यह भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी प्रति है, जो सुवाच्य तथा सुन्दर अक्षरोंमें लिखी हुई है और जो २०×३०/८ पेजी सफेद रफ़दार पुष्ट कागज़ पर नीली स्याहीमें लिखी है। इसका काशीसूचक 'क' नाम है। 'म' प्रतिसे यह प्रति कम अशुद्ध है।

संशोधन और त्रुटित पाठपूर्ति

ऊपर कहा गया है कि प्रारम्भमें जो प्रति प्राप्त हुई थी उसमें काफ़ी अशुद्धियां, पाठभेद और त्रुटित पाठ विद्यमान हैं। उनका संशोधन हमने मूल ताडपत्र प्रतिके आधारसे किया है और संशोधनमें उससे बड़ी सहायता ली है। ताडपत्र प्रतिमें जो पाठ त्रुटित हैं और जिनकी संख्या बहुत बड़ी है उनमें सौ-डेढ़सौ त्रुटित पाठोंकी पूर्ति विषयसंगति, सन्दर्भ और प्रकरणोंके अनुसार हमने यथाशक्ति अपनी ओरसे करनेका प्रयत्न किया है और उन्हें [ ] ऐसे ब्रैकटमें रखा है। तथा शेषको समय एवं श्रमसाध्य जानकर छोड़ दिया है। उदाहरणके तौरपर कुछ पाठभेदात्मक संशोधनों और त्रुटित पाठोंकी पूर्तियों नीचे दिया जाता है, जिससे पाठक उनकी संगति एवं प्रामाणिकता आदिको खुद ज्ञात करेंगे:—

संशोधन—

न	म	क
ईश्वरादृष्टयोः (५-१४)	ईश्वरादृष्टयोः	ईश्वरोत्कृष्टयोः
उपपत्त्यभावतः (८-८)	उपपद्यमानतः	उपपत्त्यभावतः
तस्यार्थैः प्रापकल्पते (१०-१३)	न प्रतिपन्न	तस्यान्यैश्च कल्प्यते
यद्धि नामपश्यन्नं (१०-६ २)	यदु दर्शय	यदि दर्शय
ज्ञानेन सर्वविदिति (११-६ ३)	ज्ञाने सर्वविदिति	न प्रतिपन्नम् ।

त	स	क
वौद्धीयत्वात् (१०-२४)	वौद्धेयत्वात्	जाद्धियत्वात्
सद्भावाद्ध देो (११-२)	सद्भावो द्व देो	सद्भावो द्वधो
गुणः कस्मान्नीरूपत्व-तयेत्यसत् (११-११)	त प्रतिवत्	गुणास्तस्मान्नि-रूपत्वत इत्यसत्
ततो दोपा (११-१३)	तद्दोपा	तद्दोपा
यौगे(१४-३०)	यागे	यागे
पर्युदासनञर्थेन (१३-२०)	पर्युदासने इत्यतः	पर्युदासन इथेत

त्रुटित पाठोंकी पूर्ति—

१. [नमः श्रीवर्द्धमा] नाय (१-१)

२. सौ [ख्यं वा दु:खमेव वा] (१-३)

३. पृ [थिव्यादिभ्य इ] त्येव (१-१२)

४, नीय [मानत्वमे] नयोः। (१-१५)

५. धर्मो [न स्यात्फलात्य] यात्। (२-१)

६. इति चेत् दृष्टमिष्टं [हि चान्योन्याश्रय] दूषणम्। (२-३०)

७. सन्ता [नो हि भवेत्तत्र ततः] कर्तुः फलात्ययः। (४-१)

८. न हि [स्यादेकताऽभावे वौद्धानां] स्मरणादिकम्। (४-५५)

९. पक्षधर्मत्वहीनोऽपि [गमकः कृत्तिको] दयः॥ (४-८३)

संस्करणकी उल्लेखनीय बातें

इस संस्करणकी जो उल्लेखनीय बातें हैं वे निम्न हैं:—

१. ग्रन्थको अधिक शुद्ध रूपमें प्रस्तुत करने तथा त्रुटित पाठोंकी पूर्ति करनेका यथेष्ट प्रयत्न किया गया है।

सहयोग दिया। इन सब सत्पुरुषोंके सौजन्यका ही प्रस्तुत फल है और उसका श्रेय इन्हींको प्राप्त है, अन्यथा मैं अकेला क्या कर सकता था।

अन्तमें मैं उन ग्रन्थकारों, सम्पादकों और लेखकोंका भी आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों आदिसे कुछ भी सहायता मिली है।

सम्पादक
दरबारीलाल कोठिया,
(मुख्याध्यापक श्रीसमन्तभद्रविद्यालय)

दरियागंज, देहली
९ अक्तूबर १९५०,

(विषय-सूचीका शेषांश)

प्रस्तावना

स्याद्वादसिद्धि और वादीभसिंहसूरि

१. स्याद्वादसिद्धि

(क) ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थरत्नका नाम 'स्याद्वादसिद्धि' है। यह तार्किकशिरोमणि वादीभसिंहसूरि द्वारा रची गई महत्त्वपूर्ण एवं उच्चकोटिकी दार्शनिक कृति है। इसमें जैनदर्शनके मौलिक और महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' का प्रतिपादन करते हुए उसका विविध प्रमाणों तथा युक्तियोंसे साधन किया गया है। अतएव इसका 'स्याद्वादसिद्धि' यह नाम भी सार्थक है। यह प्रधान जैन तार्किक अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय आदि जैसा ही कारिकात्मक प्रकरण-ग्रन्थ है। किन्तु दुःख है कि यह विद्यानन्दकी 'सत्यशासनपरीक्षा' और हेमचन्द्रकी 'प्रमाणमीमांसा' की तरह खण्डित तथा अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। मालूम नहीं, यह अपने पूरे रूपमें और किसी शास्त्रभण्डारमें पाया जाता है या नहीं। अथवा, ग्रन्थकार के अन्तिम जीवनकी यह रचना है जिसे वे स्वर्गवास हो जानेके कारण पूरा नहीं कर सके? मूडबिद्रीके जैनमठसे जो इसकी एक मात्र जीर्ण-शीर्ण और प्राचीन ताडपत्रीय प्रति प्राप्त हुई है वह भी बहुत ही खण्डित दशामें विद्यमान है—उसके अनेक पत्र मध्यमें और किनारोंपर टूटे हुए हैं और मात्र पत्र

तो बीचमें बिल्कुल ही गायब हैं उससे जान पड़ता है कि ग्रन्थकार ने इसे सम्भवतः पूरे रूपमें ही रचा है। और इसलिये यदि यह अभी नष्ट नहीं हुआ है तो असम्भव नहीं कि इसका अनुसन्धान होनेपर यह किसी दूसरे जैनेतर शास्त्रभण्डारमें मिल जाय।

यह प्रसन्नताकी बात है कि जितनी रचना उपलब्ध है उसमें १३ प्रकरण तो पूरे और १४ वाँ तथा अगले २ प्रकरण अपूर्ण और इस तरह पूर्ण-अपूर्ण १६ प्रकरण मिलते हैं। और इन सब प्रकरणोंमें (२४+४४+७४+८६½+३२+२२+२२+२१ +२३+३६+२८+१६+२१+७०+१३८+६½=)६७० जितनी कारिकाएं सन्निबद्ध हैं। इससे ज्ञात हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महान् और विशाल है। दुर्भाग्यसे अब तक यह विद्वत्संसारके समक्ष शायद नहीं आया और इसलिये अभी तक अपरिचित तथा अप्रकाशित दशामें पड़ा चला आरहा।

(ख) भाषा और रचनाशैली

दार्शनिक होनेपर भी इसकी भाषा विशद और बहुत कुछ सरल है। आप ग्रन्थको सहजभावसे पढ़ते जाइये, विषय समझमें आता जायेगा। हाँ, कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ पाठकको अपना पूरा उपयोग लगाना पड़ता है और जिससे ग्रन्थकी प्रौढता, विशिष्टता एवं अपूर्वताका भी कुछ अनुभव हो जाता है। यह ग्रन्थकारकी मौलिक स्वतन्त्र पद्यात्मक रचना है—किसी दूसरे गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है। इस प्रकारकी रचनाको रचनेकी प्रेरणा उन्हें अकलंकदेवके न्यायविनिश्चयादि और शान्तरक्षितादिके तत्त्वसंग्रहादिसे मिली जान पड़ती है।

धर्मकीर्ति (६२५ई०) ने सन्तानान्तरसिद्धि, कल्याणरक्षित (७०० ई०) ने बाह्यार्थसिद्धि, धर्मोत्तर (ई० ७२५) ने परलोक-

सिद्धि और ब्रह्मसिद्धि तथा शङ्करानन्द (ई० ८००) ने अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धि जैसे नामोंवाले ग्रन्थ बनाये हैं और इनसे भी पहले स्वामी समन्तभद्र (विक्रमकी २ री, ३ री शती) और पूज्यपाद-देवनन्दि (विक्रमकी ६ ठी शती) ने क्रमशः जीवसिद्धि तथा सर्वार्थसिद्धि जैसे सिद्ध्यन्त नामके ग्रन्थ रचे हैं। सम्भवतः वादीभसिंहने अपनी यह 'स्याद्वादसिद्धि' भी उसी तरह सिद्ध्यन्त नामसे रची है।

(ग) विषय-परिचय

ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने प्रथमतः पहली कारिकाद्वारा मङ्गलाचरण और दूसरी कारिकाद्वारा ग्रन्थ बनानेका उद्देश्य प्रदर्शित किया है। इसके बाद उन्होंने विवक्षित विषयका प्रतिपादन आरम्भ किया है। वह प्रतिपाद्य विषय है स्याद्वादकी सिद्धि और उसमें तत्त्वव्यवस्थाका सिद्ध होना। इन्हीं दो बातोंका इसमें कथन किया गया है और प्रसङ्गतः दर्शनान्तरीय मान्यताओंकी समीक्षा भी की गई है।

इसके लिए ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें अनेक प्रकरण रचे हैं। उपलब्ध प्रकरणोंमें विषय-वर्णन इस प्रकार है:—

१, जीवसिद्धि—इसमें चार्वाकका खण्डन करके भोक्ता जीव (आत्मा)की सिद्धि की गई है और उसे पूर्वसंधानका कार्य मानने का निरूपण किया गया है। इस प्रकरणमें २७ कारिकाएँ हैं।

२, फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें बौद्धोंके क्षणिकवादमें दूषण दिये गये हैं। कहा गया है कि क्षणिक चित्तसन्तानरूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता, क्योंकि धर्मादि करनेवाला भिन्न क्षणवर्ती है—वह उसी समय

नष्ट हो जाता है और यह नियम है कि 'कर्त्ता ही फलभोक्ता होता है' अतः आत्माको कथंचित् नाशशील—सर्वथा नाशशील नहीं—स्वीकार करना चाहिये। और उस हालतमे कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व दोनों एक (आत्मा)के बन सकते हैं। यह प्रकरण ४४ कारिकाओंमें पूरा हुआ है।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि— इसमे वस्तुको युगपत्—एक साथ वास्तविक अनेकधर्मात्मक सिद्ध किया गया है और बौद्धाभिमत अपोह, सन्तान, सादृश्य तथा संवृति आदिकी युक्तिपूर्ण समीक्षा करते हुये चित्तक्षणोंको निरन्वय एवं निरंश स्वीकार करने में एक दूषण यह दिया गया है कि जब चित्तक्षणोंमें अन्वय व्यापि-द्रव्य) नहीं है—वे परस्पर सर्वथा भिन्न है तो 'दाताको ही स्वर्ग और वधकको ही नरक हो' यह नियम नहीं बन सकता। प्रत्युत इसके विपरीत भी सम्भव है—दाताको नरक और वधकको स्वर्ग क्यों न हो? इस प्रकरणमें ७४ कारिकाएं हैं।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि— इसमे वस्तुको क्रमसे वास्तविक अनेक धर्मोंवाली सिद्ध किया है। यह प्रकरण भी तीसरे प्रकरण की तरह क्षणिकवादी बौद्धोको लक्ष्य करके लिखा गया है। इसमें कहा गया है कि यदि पूर्व और उत्तर पर्यायोंमे एक अन्वयी द्रव्य न हो तो न तो उपादानोपादेयभाव बन सकता है, न प्रत्य-भिज्ञा बनती है, न स्मरण बनता है और न व्याप्तिग्रहण ही बनता है, क्योंकि क्षणिकैकान्तमे उन (पूर्व और उत्तर पर्यायों) में एकता सिद्ध नहीं होती, और ये सब उसी समय उपपन्न होते है जब उनमें एकता (अनुस्यूतरूपसे रहनेवाला एकपना) हो। अतः जिस प्रकार मिट्टी क्रमवर्ती स्थास-कोश-कुशूल-कपाल-घटादि अनेक पर्याय-धर्मोंसे युक्त है उसी प्रकार समस्त वस्तुएं भी क्रमसे

नानाधर्मात्मक हैं और वे नाना धर्म उनके उसी तरह वास्तविक हैं जिस तरह निर्दोष आत्मादिक।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वादीभसिंहकी तरह विद्यानन्दने भी अनेकान्तके दो भेद बतलाये हैं[1]—एक सहानेकान्त और दूसरा क्रमानेकान्त। और इन दोनों अनेकान्तोंकी प्रसिद्धि एवं मान्यताको उन्होंने श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' [त० सू० ५-३८] इस सूत्रकथनसे समर्थित किया है अथवा सूत्रकारके कथनको उक्त दो अनेकान्तोंकी दृष्टिसे सार्थक बतलाया है। अतः युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्तरूप दो अनेकान्तोंकी दृष्टि जैन दर्शनकी एक बहुत प्राचीन चर्चा मालूम होती है जिसका स्पष्ट उल्लेख इन दोनों विद्वानों द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। यह प्रकरण ८२ कारिकाओंमें समाप्त है।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें सर्वथा नित्यवादियोंको लक्ष्य करके उनके नित्यैकान्तकी समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि आत्मादि वस्तु सर्वथा नित्य—कूटस्थ—सदा एक-सी रहने वाली—अपरिवर्तनशील हो तो वह न कर्ता बन सकती है और न भोक्ता। कर्ता माननेपर भोक्ता और भोक्ता माननेपर कर्ताके अभावका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन ये दोनों क्रमवर्ती परिवर्तन हैं और वस्तु नित्यवादियोंद्वारा सर्वथा अपरिवर्तनशील—नित्य मानी गई है। यदि वह कर्तापनको त्यागकर भोक्ता बने तो वह नित्य नहीं रहती—अनित्य हो जाती है, क्योंकि कर्तापन आदि वस्तुसे अभिन्न हैं।

---

१ गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्ययवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये॥—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३८

यदि भिन्न हों तो वे आत्माके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उनमें समवायादि कोई सम्बन्ध नहीं बनता। अतः नित्यैकान्तमें आत्माके भोक्तापन आदिका अभाव सिद्ध है। इस प्रकरणमें ३२ कारिकाएँ हैं।

६. सर्वज्ञाभावसिद्धि—इसमें नित्यवादी नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसकोंको लक्ष्य करके उनके स्वीकृत नित्यैकान्त प्रमाण (आत्मा-ईश्वर अथवा वेद) में सर्वज्ञताका अभाव प्रतिपादन किया गया है। इसमें २२ कारिकाएँ हैं।

७. जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें ईश्वर जगत्कर्ता सिद्ध नहीं होता, यह बतलाया गया है। इसमें भी २२ कारिकाएँ हैं।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि—इसमें सप्रमाण अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है और विभिन्न बाधाओंका निरसन किया गया है। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि—नववाँ प्रकरण अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञादिकी साधक अर्थापत्तिको प्रमाण सिद्ध करते हुए उसे अनुमान प्रतिपादन किया गया है और उसे माननेकी खास आवश्यकता बतलाई गई है। कहा गया है कि जहाँ अर्थापत्ति (अनुमान)का उत्थापक अन्यथानुपपन्नत्व-अविनाभाव होता है वही साधन साध्यका गमक होता है। अतएव उसके न होने और अन्य पक्षधर्मत्वादि तीन रूपोंके होने पर भी 'वह श्याम होना चाहिये, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें प्रयुक्त 'उसका पुत्र होना' रूप साधन अपने 'श्यामत्व' रूप साध्यका गमक नहीं है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है—प्रमाण है और वह अनुमानस्वरूप है। इस

इसमें २६ कारिकाएँ हैं।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि—दशवां प्रकरण वेदपौरुषेयत्वसिद्धि है। इसमें वेदको सयुक्तिक पौरुषेय सिद्ध किया गया है और उसकी अपौरुषेय मान्यताकी तार्किक मीमांसा की गई है। यह प्रकरण ३६ कारिकाओंमें समाप्त है।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि—ग्यारहवाँ प्रकरण परतः प्रामाण्यसिद्धि है। इसमें मीमांसकोंके स्वतःप्रामाण्य सम्बन्धी कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रन्थके उद्धरणपूर्वक उसकी आलोचना करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) प्रमाणोंमें गुणकृत प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। इस प्रकरणमें २८ कारिकाएँ हैं।

१२. अभावप्रमाणदूषणसिद्धि—बारहवां प्रकरण अभावप्रमाणदूषणसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञका अभाव बतलानेके लिये भाट्टोंद्वारा प्रस्तुत अभावप्रमाणमें दूषण प्रदर्शित किये गये हैं और उसकी अतिरिक्त प्रमाणताका निराकरण किया गया है। इसमें १६ कारिकाएँ निबद्ध हैं।

१३. तर्कप्रामाण्यसिद्धि—तेरहवां प्रकरण तर्कप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय करानेवाले तर्कको प्रमाण सिद्ध किया गया है और यह बतलाया गया है कि प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाणोंसे अविनाभावका ग्रहण नहीं हो सकता। इसमें २७ कारिकाएँ हैं।

१४. ------चौदहवां प्रकरण अपूर्ण है और इसलिये इसके अन्तमें समाप्तिपुष्पिकावाक्य उपलब्ध न होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि इसका नाम क्या है। इसमें प्रधानतया नैयायिकके गुण-गुणीभेदादि और समवायादिकी समालोचना

की गई है। अतः सम्भव है इसका नाम 'गुण-गुणीअभेदसिद्धि' हो। इसमें ७० कारिकाएं उपलब्ध हैं। इसकी अन्तिम कारिका, जो खण्डित एवं त्रुटित रूपमें है, इस प्रकार है—

'तद्विशेषणभावाख्यसम्बन्धे तु न च (चा?) स्थितः।
समवा .... ॥७०॥

ब्रह्मदूषणसिद्धि—उपलब्ध रचनामें उक्त प्रकरणके बाद यह प्रकरण पाया जाता है। मूडबिद्रीकी ताडपत्र-प्रतिमें उक्त प्रकरणकी उपर्युक्त 'तद्विशेषण' आदि कारिकाके बाद इस प्रकरणकी 'तन्नो चेद्ब्रह्मनिर्णीति' आदि ५२ वीं कारिकाके पूर्वार्द्ध तक सात पत्र त्रुटित है। इन सात पत्रोंमें मालूम नहीं कितनी कारिकाएं और प्रकरण नष्ट हैं। एक पत्रमें लगभग ५० कारिकाएं पाई जाती हैं और इस हिसाबसे सात पत्रोंमें ५०×७=३५० के करीब कारिकाएं होनी चाहियें और प्रकरण कितने होंगे, यह कहा नहीं जा सकता। अत एव यह 'ब्रह्मदूषणसिद्धि' प्रकरण कौनसे नम्बर अथवा संख्यावाला है, यह बतलाना भी अशक्य है। इसका ५१½ कारिकाओं जितना प्रारम्भिक अंश नष्ट है। ब्रह्मवादियोंको लक्ष्य करके इसमें उनके अभिमत ब्रह्ममें दूषण दिखाये गये है। यह १८९ (—५१½=१३७½) कारिकाओंमें पूर्ण हुआ है और उपलब्ध प्रकरणोंमें सबसे बड़ा प्रकरण है।

अन्तिम प्रकरण—उक्त प्रकरणके बाद इसमें एक प्रकरण और पाया जाता है और जो खण्डित है तथा जिसमें सिर्फ आरम्भिक ६½ कारिकाएं उपलब्ध हैं। इसके बाद ग्रन्थ खण्डित और अपूर्ण हालतमें विद्यमान है। चौदहवें प्रकरणकी तरह इस प्रकरणका भी समाप्तिपुष्पिकावाक्य अनुपलब्ध होनेसे इसका नाम ज्ञात नहीं होता। उपलब्ध कारिकाओंसे मालूम होता है कि

इसमें स्याद्वादका प्ररूपण और बौद्धदर्शनके अपोहादिका खण्डन होना चाहिए।

अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख

ग्रन्थकारने इस रचनामें अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थ-वाक्योंका भी उल्लेख किया है। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना और नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निम्न प्रकार खण्डन किया है—

नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा।
भट्ट-प्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम् ॥६-१६॥

इसी तरह अन्य तीन जगहोंपर कुमारिल-भट्टके मीमांसाश्लोकवार्त्तिकसे 'वार्तिक' नामसे अथवा उसके बिना नामसे भी तीन कारिकाएं उद्धृत करके समालोचित हुई हैं और जिन्हें ग्रन्थका अङ्ग बना लिया गया है। वे कारिकाएं ये हैं—

(क) 'वेदस्याध्ययनं सर्वं' गुर्वध्ययनपूर्वकम्
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥'[मी० श्लो० अ० ७ का ३६६]
इत्यस्मादनुमानात्स्माद्वेदस्यापौरुषेयता । १०-२७ ।

(ख) 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥'

—[मी० श्लो० सू० २ का ४७]

इति वार्तिकसद्भावात्..—९-११ ।

(ग) 'शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः ।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥'

—[मी० श्लो० सू० २ का ६२]

इति वार्त्तिकतः शब्द................. .. .. ।—११—२०।

इसी तरह प्रशस्तकर[1], दिग्नाग[2], धर्मकीर्ति[3] जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथकारोंके पद-वाक्यादिकोंके भी उल्लेख इसमें पाये जाते हैं।

---

१ 'इह शाखासु वृत्तोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका।
बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत्॥' ...४-८॥

इसमें प्रशस्तकरके प्रशस्तपादभाष्यगत समवायलक्षणकी सिद्धि प्रदर्शित है। तथा आगेकी कारिकाओंमे उनके 'अयुतसिद्धि' विशेषणकी आलोचना भी की गई है।

२ 'विकल्पयोनयः शब्दा इति बौद्धवचःश्रुतेः।
कल्पनाया विकल्पत्वान्न हि बुद्धस्य वक्तृता॥' ७-५॥

इस कारिकामे जिस 'विकल्पयोनयः शब्दाः' वाक्यको बौद्धका वचन कहा गया है वह वाक्य निम्न कारिकाका वाक्यांश है—

'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी॥'

यह करिका न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५३७) आदि ग्रंथोंमें उद्धृत है। ८ वीं-९ वीं शतीके विद्वान् हरिभद्रने भी इसे अनेकान्तजयपताका (पृ० ३३७) में उद्धृत किया है और उसे भदन्त दिन्नकी बतलाई है। भदन्त दिन्न सम्भवतः दिग्नागको ही कहा गया है। इस कारिकामें प्रतिपादित सिद्धान्त (शब्द और अर्थके सम्बन्धाभाव)को दिग्नागके अनुगामी धर्मकीर्तिने भी अपने प्रमाणवार्तिक (३-२०४) में वर्णित किया है।

३ 'विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये।
इत्यादिवाक्यसद्भावात्स्याद्धि बुद्धेऽप्यवक्तृता॥' ७-४।

इस कारिकाका पूर्वार्ध प्रमाणवार्तिक १-१ का पूर्वार्ध है।

स्याद्वादवाणीकी गर्जना करनेवाला तथा दिग्नाग और धर्मकीर्ति के अभिमानको चूर-चूर करनेवाला प्रकट किया है। यथा—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते।
दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभङ्गो न दुर्घटः॥

(३) श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्ति (ई० ११२८) में एक वादीभसिंहसूरि अपरनाम गणभृत (आचार्य) अजितसेनका गुणानुवाद किया गया है और उन्हें स्याद्वादविद्याके पारगामियों द्वारा आदरपूर्वक सतत वन्दनीय और लोगोंके भारी आन्तर तम को नाश करनेकेलिये पृथिवीपर आया दूसरा सूर्य बतलाया गया है। इसके अलावा, उन्हे अपनी गर्जनाद्वारा वादि-गजोंको शीघ्र चुप करके निग्रहरूपी जीर्ण गढ्डेमे पटकनेवाला तथा राजमान्य भी कहा गया है। यथा—

वन्दे वन्दितमादरादहरहस्स्याद्वादविद्या विदां।
स्वान्त-ध्वान्त-वितान-धूनन विधौ भास्वन्तमन्यं भुवि।
भक्त्या त्वाऽजितसेनमानतिकृतां यत्सन्नियोगान्मनः-
पद्मं सद्म भवेद्विकास-विभवस्योन्मुक्त-निद्राभरं ॥५४॥

मिथ्या-भाषण-भूषणं परिहरेतौद्धत्यमुन्मुञ्चत,
स्याद्वादं वदतानमेत विनयाद्वादीभकण्ठीरवं।
नो चेत्तद्गुरुगर्जित-श्रुति-भय भ्रान्ता स्थ यूयं यत-
स्तूर्णं निग्रहजीर्णकूपकुहरे वादि-द्विपाः पातिनः ॥५५॥

सकलभुवनपालानम्रमूर्द्धावबद्ध-
स्फुरित मुकुट चूडालीढ-पादारविन्दः।
मदवदखिल-वादीभेन्द्र कुम्भप्रभेदी,
गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः ॥५७॥

—शिलालेख नं० ५४ (६७)।

(४) अष्टसहस्रीके टिप्पणकार लघुसमन्तभद्रने भी अपने

(६) पं० के० भुजबलीजी शास्त्री[1] ई० १०६० और ई० ११४७ के नं० ३ तथा न० ३७ के दो शिलालेखोंके[2] आधारसे एक वादीभ-सिंह (अपर नाम अजितसेन)का उल्लेख करते हैं।

(७) श्रुतसागरसूरिने भी सोमदेवकृत यशस्तिलक (आश्वास २-१२६) की अपनी टीकामें एक वादीभसिंहका निम्न प्रकार उल्लेख किया है और उन्हें सोमदेवका शिष्य कहा है:—

'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः

श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः। इत्युक्तत्वाच्च।'

वादिसिंह और वादीभसिंहके ये सात उल्लेख हैं जो अब तककी खोजके परिणामस्वरूप विद्वानोंको जैन साहित्यमे मिले हैं। अब देखना यह है कि ये सातों उल्लेख भिन्न भिन्न हैं अथवा एक? अन्तिम उल्लेखको प्रेमीजी,[3] पं० कैलाशचन्द्रजी[4] आदि विद्वान अभ्रान्त और विश्वसनीय नहीं मानते, जो ठीक भी है, क्योंकि इसमें उनका हेतु है कि न तो वादीभसिंहने ही अपनेको सोम-देवका कहीं शिष्य प्रकट किया और न वादिराजने ही अपने को उनका शिष्य बतलाया है। प्रत्युत वादीभसिंहने तो पुष्प-सेन मुनिको और वादिराजने मतिसागरको अपना गुरु बतलाया है। दूसरे, सोमदेवने उक्त वचन किस ग्रंथ और किस प्रसङ्गमें कहा, यह सोमदेवके उपलब्ध ग्रन्थोंपरसे ज्ञात नहीं होता। अतः जबतक अन्य प्रमाणोंसे उसका समर्थन नहीं होता तबतक उसे प्रमाणकोटिमें नहीं रखा जा सकता

१ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ६, कि० २ पृ० ७८।

२ देखो, ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा सङ्कलित तथा अनुवादित 'मद्रास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन स्मारक' नामक पुस्तक।

३ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४८०।

४ देखो, न्यायकुमुद प्र० भा० प्रस्ता० पृ० ११२।

स्थित किये जाते हैं।

(१) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके मङ्गलाचरणोंमें कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् भक्तोंके समीहित (जिनेश्वर-पदप्राप्ति) को पुष्ट करें—देवे। यथा—

(क) श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्भक्तानां वः समीहितम्।
यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे ॥१॥

—क्षत्रचू० १-१।

(ख) श्रियः पतिः पुष्यतु वः समीहितं,
त्रिलोकरक्षानिरतो जिनेश्वरः।
यदीयपादाम्बुजभक्तिशीकरः,
सुरासुराधीशपदाय जायते॥ —गद्यचि० पृ० १।

लगभग यही प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिके मङ्गलाचरणमें कहा गया है—

(ग) नमः श्रीवर्द्धमानाय स्वामिने विश्ववेदिने।
नित्यानन्द-स्वभावाय भक्त-सारूप्य-दायिने ॥१-१॥

(२) जिस प्रकार क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके प्रत्येक लम्बके अन्तमें समाप्ति-पुष्पिकावाक्य दिए हैं वैसे ही स्याद्वाद-सिद्धिके प्रकरणान्तमें वे पाये जाते हैं। यथा—

(क) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः' — क्षत्रचूडा०।

(ख) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते गद्यचिन्तमणौ सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः।' —गद्यचिन्तामणि।

(ग) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः।'—स्याद्वादसिद्धि।

(३) जिस तरह क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें यत्र क्वचित् नीति, तर्क और सिद्धान्तकी पुट उपलब्ध होती है उसी

छाप (अनुकृति) जान पड़ती है। इस प्रकारके प्रयत्नके जैनसाहित्यमें अनेक उदाहरण मिलते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि महान् दार्शनिक ग्रंथोंके कर्ता आचार्य विद्यानन्दकी जैनसाहित्यमे जो भारी ख्याति और प्रसिद्धि है वैसी ही ख्याति और प्रसिद्धि ईसाकी १६ वीं शताब्दीमें हुए एक दूसरे विद्यानन्दिकी हुम्बुचके शिलालेखों और वर्द्धमानमुनीन्द्रके दशभक्त्यादिमहाशास्त्रमे वर्णित मिलती है और जिससे विद्वानोंको इन दोनोंके ऐक्यमें भ्रम हुआ है, जिसका निराकरण विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ टीका सहित 'आप्त-परीक्षा'की प्रस्तावनामें किया गया है[1]। हो सकता है कि प्रथम नामवाले विद्वानकी तरह उसी नामवाले दूसरे विद्वान् भी प्रभावशाली रहे हों। अतः ८वीं-९वीं शताब्दीसे १२वीं शताब्दी तक विभिन्न वादीभसिंहोंका अस्तित्व मानना चाहिए। यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त ग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंहके कवि और स्याद्वादी होनेके उनके ग्रन्थोंमे प्रचुर बीज भी मिलते हैं।

अब इनके समयपर विचार किया जाता है।

१. स्वामीसमन्तभद्ररचित रत्नकरण्डक और आप्तमीमांसाका क्रमशः क्षत्रचूडामणि और स्याद्वादसिद्धिपर स्पष्ट प्रभाव है। यथा—

श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म किल्विषात्।

—रत्नकरण्ड० श्लोक २९।

देवता भविता श्वापि देवः श्वा धर्म-पापतः।

—क्षत्रचूडामणि ११-७७।

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्॥ आप्त. ८।

कुशलाकुशलत्वं च न चेत्ते दातृहिंस्रयोः॥

—स्या० ३-५०।

---

1. देखो, प्रस्तावना पृ० ८।

करके उनकी आलोचना की गई है। कुमारिलभट्ट और प्रभाकर समकालीन विद्वान हैं तथा ईसाकी सातवीं शताब्दी उनका समय माना जाता है, अतः वादीभसिंह इनके उत्तरवर्ती हैं।

४. बौद्ध विद्वान् शङ्करानन्दकी अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धिकी आलोचना स्याद्वादसिद्धिके तीसरे-चौथे प्रकरणोंमें की गई मालूम होती है। शङ्करानन्दका समय राहुल सांस्कृत्यायनने ई० ८१० निर्धारित किया है[1]। शङ्करानन्दके उत्तरकालीन अन्य विद्वान्की आलोचना अथवा विचार स्याद्वादसिद्धिमें पाया जाता हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। अतः वादीभसिंहके समयकी पूर्वावधि शङ्करानन्दका समय जानना चाहिये। अर्थात् ईसाकी ८वीं शती इनकी पूर्वावधि माननेमें कोई बाधा नहीं है।

अब उत्तरावधिके साधक प्रमाण दिये जाते हैं—

१. तामिल-साहित्यके विद्वान् पं० स्वामिनाथय्या और श्री कुप्पूस्वामी शास्त्रीने अनेक प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तामिल भाषामें रचित तिरुत्तक्कदेव कृत 'जीवकचिन्तामणि' ग्रन्थ क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिकी छाया लेकर रचा गया है और जीवकचिन्तामणिका उल्लेख सर्व प्रथम तामिलभाषाके पेरियपुराणमें मिलता है जिसे चोल-नरेश कुलोत्तुङ्गके अनुरोधसे शेक्किलार नामक विद्वान्ने रचा माना जाता है। कुलोत्तुङ्गका राज्यकाल वि० स० ११३७ से ११७५ (ई० १०८० से ई० १११८) तक है[2]। अतः वादीभसिंह इससे पूर्ववर्ती हैं— बादके नहीं।

२. श्रावकके आठ मूलगुणोंके बारेमें जिनसेनाचार्यके पूर्व एक ही परम्परा थी और वह थी स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचार प्रतिपादित। जिसमें तीन मकार (मद्य, मांस

---

१ देखो, 'वादन्याय का परिशिष्ट A।

२ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास।

और मधु) तथा हिंसादि पांच पापोंका त्याग विहित है। जिनसेनाचार्यने इस परम्परामें कुछ परिवर्तन किया और मधुके स्थानमें जुआको रखकर मद्य, मांस, जुआ तथा पांच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया। इसके बाद सोमदेवने तीन मकार और पांच उदुम्बर फलोंके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा, जिसका अनुसरण पं० आशाधरजी आदि विद्वानोंने किया है। परन्तु वादीभसिंहने क्षत्रचूडामणिमें[1] स्वामी समन्तभद्र प्रतिपादित परम्पराको ही स्थान दिया है और जिनसेन आदिकी परम्पराओंको स्थान नहीं दिया। यदि वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवके उत्तरकालीन होते तो ये बहुत सम्भव था कि उनकी परम्पराको देते अथवा साथमें उन्हें भी देते। जैसा कि पं० आशाधरजी आदि उत्तरवर्ती विद्वानोंने किया है। इसके अलावा, जिनसेन (ई० ८३८) ने आदिपुराणमें इनका स्मरण किया है, जैसाकि पूर्वमें कहा जा चुका है। अतः वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवसे, जिनका समय क्रमशः ईसाकी नवमी और दशमी शताब्दी है, पश्चाद्वर्ती नहीं हैं—पूर्ववर्ती हैं।

४. न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टने कुमारिलकी मीमांसाश्लोकवार्तिक गत 'वेदस्याध्ययनं सर्वं' इस, वेदकी अपौरुषेयताको सिद्ध करनेके लिये उपस्थित की गई, अनुमानकारिकाका न्यायमञ्जरीमें सबसे प्रथम 'भारताध्ययनं सर्वं' इस रूपमें खण्डन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र[2], अभयदेव[3]

१ [illegible] स्वामी-[illegible]।
[illegible] मूलगुणाष्टकम् ॥ क्षत्र० ७-२३।
[illegible] पृ० [illegible], प्रमेयक० पृ० [illegible]।
२ देखो, [illegible] पृ० [illegible]।
३ देखो, [illegible] पृ० [illegible]।

देवसूरि[1], प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य[2] प्रभृति तार्किकोंने किया है। न्यायमञ्जरीकारका वह खण्डन इस प्रकार है—

'भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात्।
भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं।
भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति॥'

—न्यायम० पृ० २१४।

परन्तु वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिमें कुमारिलकी उक्त कारिकाके खण्डनके लिये अन्य विद्वानोंकी तरह न्यायमञ्जरीकारका अनुगमन नहीं किया। अपितु स्वरचित एक भिन्न कारिका-द्वारा उसका निरसन किया है जो निम्न प्रकार है:—

पिटकाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति॥ —स्या. १०-३०।

इसके अतिरिक्त वादीभसिंहने कोई पांच जगह और भी इसी स्याद्वादसिद्धिमें पिटकका ही उल्लेख किया है, जो प्राचीन परम्पराका द्योतक है। अष्टशती और अष्टसहस्री (पृ. २३७)मे अकलङ्कदेव तथा उनके अनुगामी विद्यानन्दने भी इसी (पिटकत्रय) का ही उल्लेख किया है।

इससे हम इस नतीजेपर पहुंचते है कि यदि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टके उत्तरवर्ती होते तो संभव था कि वे उनका अन्य उत्तरकालीन विद्वानोंकी तरह जरूर अनुसरण करते—'भारताध्ययनं सर्वं' इत्यादिको ही अपनाते और उस हालतमें 'पिटकाध्ययनं सर्वं' इस नई कारिकाको जन्म न देते। इससे ज्ञात होता है कि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकारके उत्तरवर्ती विद्वान् नहीं हैं। न्यायमञ्जरीकारका समय ई० ८४० के

---

१ देखो, स्या. र. पृ. ६३१। २ देखो, प्रमेयरत्न. पृ. १३७।

असमादादिवदेवाऽस्य जातु नैवाशरीरता ॥'
देहस्यान्तादित्त स्यादेतस्यां च प्रमात्ययात्। —६ १०, ११½।

इन दोनों उद्धरणोंका मिलान करनेसे ज्ञात होता है कि वादीभसिंहका कथन जहाँ संक्षिप्त है वहाँ विद्यानन्दका कथन कुछ विस्तारयुक्त है। इसके अलावा, वादीभसिंहने प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिमें अनेकान्तके युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्त ये दो भेद प्रदर्शित करके उनका एक एक स्वतन्त्र प्रकरण द्वारा विस्तारसे वर्णन किया है। विद्यानन्दने भी श्लोकवार्तिक (पृ० ४३८)मे अनेकान्तके इन दो भेदोंका उल्लेख किया हैं। इन बातोंसे लगता है कि शायद विद्यानन्दने वादीभसिंहका अनुसरण किया है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो विद्यानन्दका समय वादीभसिंहकी उत्तरावधि समझना चाहिये। यदि ये दोनों विद्वान समकालीन हों तो भी एक दूसरेका प्रभाव एक दूसरेपर पड़ सकता है और एक दूसरेके कथन एवं उल्लेखका आदर एक दूसरा कर सकता है। विद्यानन्दका समय हमने अन्यत्र[1] ई० ७७५से ८४० अनुमानित किया है।

५. गद्यचिन्तामणि (पीठिका श्लोक ६) में वादीभसिंहने अपना गुरु पुष्पषेण आचार्यको बतलाया है और ये पुष्पषेण वे ही पुष्पषेण मालूम होते हैं जो अकलंकदेवके सधर्मा और 'शत्रुभयङ्कर' कृष्ण प्रथम (ई० ७५६-७७२) के समकालीन कहे जाते हैं[2]। और इसलिये वादीभसिंह भी कृष्ण प्रथमके समकालीन हैं।

अतः इन सब प्रमाणोंसे वादीभसिंहसूरिका अस्तित्व-समय

---

१ देखो, आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना पृ० ५३।

२ देखो, डा० सालतोर कृत मिडियावल जैनिज्म पृ० ३६।

ईसाकी ८वीं और ९वीं शताब्दीका मध्यकाल—ई० ७७० से ८६० सिद्ध होता है।

बाधकोंका निराकरण

इस समयके स्वीकार करनेमें दो बाधक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं और वे ये हैं—

१. क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें जीवन्धरस्वामीका चरित निबद्ध है जो गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण[1] (शक सं० ७७०, ई० ८४८) गत जीवन्धरचरितसे लिया गया है। इसका संकेत भी गद्यचिन्तामणिके निम्न पद्यमें मिलता है—

निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं,
मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुषङ्गात्।
जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगा-
द्वाक्यं ममाप्युभयलोकहितप्रदायि ॥६॥

अतएव वादीभसिंह गुणभद्राचार्यसे पीछेके हैं।

२. सुप्रसिद्ध धारानरेश भोजकी झूठी मृत्युके शोकपर उनके समकालीन सभाकवि कालिदास, जिन्हें परिमल अथवा दूसरे कालिदास कहा जाता है, द्वारा कहा गया निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते ॥

और इसी श्लोकके पूर्वार्धकी छाया सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई गद्यचिन्तामणिकी निम्न गद्यमें पाई जाती है—

१ प्रेमीजीने जो इसे 'शक सं० ७७०' (ई० सन् ८४८) की रचना बतलाई है (देखो, जैनसा० और इति० पृ. ४८१) वह संभवतः इसकी समाप्तिका काल मालूम होता है; क्योंकि उन्होंने जो प्रमाण [illegible], ई०, ८४८के आसपासकी रचना सिद्ध की है, देखो वही पृ० ५१४।

'अद्य निराधारा धरा निरालम्बा सरस्वती ।'

अतः वादीभसिंह राजा भोज (वि० सं० १०७६ से वि० ११-१२) के बादके विद्वान् है ।

ये दो बाधक है जिनमे पहलेके उद्भावक श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं और दूसरेके स्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री तथा समर्थक प्रेमीजी हैं । इनका समाधान इस प्रकार है—

१. कवि परमेष्ठी अथवा परमेश्वरने जिनसेन और गुणभद्र के पहले 'वागर्थसग्रह' नामका जगत्प्रसिद्ध पुराण रचा है[1] और जिसमे त्रेशठशलाका पुरुषोंका चरित वर्णित है तथा जिसे उत्तरवर्ती अनेकों पुराणकारोंने अपने पुराणोंका आधार बनाया है । खुद जिनसेन और गुणभद्रने भी अपने आदिपुराण तथा उत्तरपुराण उसीके अधारसे बनाये हैं, यह प्रेमीजी स्वयं स्वीकार करते है[2] । तब वादीभसिंहने भी जीवन्धरचरित जो उक्त पुराणमे निबद्ध होगा उसी (पुराण) से लिया है, यह कहनेमे भी कोई बाधा नहीं जान पड़ती ।

गद्यचिन्तामणिका जो पद्य प्रस्तुत किया गया है उसमे सिर्फ इतना ही कहा है कि 'इसमें जीवन्धरस्वामीके चरितके उद्भावक पुण्यपुराणका सम्बन्ध होने अथवा मोक्षगामी जीवन्धरके पुण्य-चरितका कथन होनेसे यह (मेरा गद्यचिन्तामणिरूप वाक्य-समूह) भी उभय लोकके लिये हितकारी है ।' और वह पुण्यपुराण उपर्युक्त कविपरमेष्ठीका वागर्थसंग्रह भी हो सकता है। इसके सिवाय, गद्यचिन्तामणिकारने उस जीवन्धरचरितको गद्यचिन्तामणिमे कहनेकी प्रतिज्ञा की है जिसे गणधरने कहा

१ देखो डा० ए० एन० उपाध्येका 'कवि परमेश्वर या परमेष्ठी' शीर्षक लेख, जैनसि० भा. भाग १३, कि. २ ।

२ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४२१ ।

'अद्य निराश्रया श्रीः, निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम्, निःसारः संसारः, नीरसा रसिकता, निरास्पदा वीरता इति मिथः प्रवर्तयति प्रणयोद्गारिणीं वाणीम्......' —पृ० १३१।

इस गद्यके पद-वाक्योंके विन्यास और अनुप्रासको देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह गद्य मौलिक है और वादीभसिंहकी अपनी रचना है। हो सकता है कि उक्त परिमल कविने इसी गद्यके पदोंको अपने उक्त श्लोकमें समाविष्ट किया हो। यदि उल्लिखित पद्यकी इसमें छाया होती तो 'अद्य' और 'निराधारा धरा' के बीचमें 'निराश्रया श्रीः' यह पद्य फिर शायद न आता। छायामें मूल ही तो आता है। यही कारण है कि इस पदको शास्त्रीजी और प्रेमीजी दोनों विद्वानोंने पूर्वोल्लिखित गद्यमें उद्धृत नहीं किया—उसे अलग करके और 'अद्य' को 'निराधारा धरा' के साथ जोड़कर उपस्थित किया है! अतः यह दूसरी बाधा भी उपरोक्त समयकी बाधक नहीं है।

(ख) पुष्पसेन और ओडयदेव

वादीभसिंहके साथ पुष्पसेन मुनि और ओडयदेवका सम्बन्ध बतलाया जाता है। पुष्पसेनको उनका गुरु और ओडयदेव उनका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम कहा जाता है। इसमें निम्न पद्य प्रमाणरूपमें दिये जाते हैं—

पुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो,
दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात्।
यच्छक्तितः प्रकृतमूढमतिर्जनोऽपि,
वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति ॥

❀ ❀ ❀

श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोडयदेवेन चिरमास्थानभूषणः॥
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः।
गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः॥

इनमें पहला पद्य गद्यचिन्तामणिकी प्रारम्भिक पीठिकाका छठा पद्य है और जो स्वयं ग्रन्थकारका रचा हुआ है। इस पद्यमें कहा गया है कि 'वे प्रसिद्ध पुष्पसेन मुनीन्द्र दिव्य मनु—पूज्य गुरु मेरे हृदयमें सदा आसन जमाये रहें—वर्तमान रहें जिनके प्रभावसे मुझ जैसा निपट मूर्ख साधारण आदमी भी वादीभसिंह मुनिश्रेष्ठ अथवा वादीभसिंहसूरि बन गया।' अतः यह असंदिग्ध है कि वादीभसिंह सूरिके गुरु पुष्पसेन मुनि थे—उन्होंने इन्हें मूर्खसे विद्वान और साधारण जनसे मुनिश्रेष्ठ बनाया था और इसलिए वे वादीभसिंहके दीक्षा और विद्या दोनोंके गुरु थे।

अन्तिम दोनों पद्य, जिनमें ओडयदेवका उल्लेख है, मुझे वादीभसिंहके स्वयंके रचे नहीं मालूम होते, क्योंकि प्रथम तो जिस प्रशस्तिके रूपमें ये पाये जाते हैं वह प्रशस्ति गद्यचिन्तामणिकी सभी प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है—सिर्फ तञ्जोरकी दो प्रतियोंमेंसे एक ही प्रतिमें वह मिलता है। इसी लिये मुद्रित गद्यचिन्तामणिके अन्तमें वे अलगसे दिए गए हैं और सम्पादक शास्त्रीने फुटनोटमें इस प्रकारकी सूचना की है। दूसरे, प्रथम श्लोकका पहला पाद और दूसरे श्लोकका दूसरा पद, तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका तीसरा पाद तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका पहला पाद परस्पर अभिन्न हैं—पुनरुक्त हैं—उनमें कोई विशेषता ज्ञापित नहीं होती; और इसलिये ये दोनों श्लिष्ट पद्य वादीभसिंहकृत

उत्कृष्ट कविकी रचना ज्ञात नहीं होते। तीसरे, वादीभसिंहसूरिकी प्रशस्ति देनेकी प्रकृति और परिणति भी प्रतीत नहीं होती। उनको क्षत्रचूडामणिमें भी वह नहीं है और स्याद्वादसिद्धि अपूर्ण है, जिससे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः उपर्युक्त दोनों पद्य हमें अन्यद्वारा रचित एवं प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं और इस लिए ओडयदेव वादीभसिंहका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम था, यह विचारणीय है। हां, वादीभसिंहका जन्म नाम व असली नाम कोई रहा जरूर होगा। पर वह क्या होगा, इसके साधनका कोई दूसरा पुष्ट प्रमाण ढूंढ़ना चाहिए।

(ग) वादिभसिंहकी प्रतिभा और उनकी कृतियां

आचार्य जिनसेन तथा वादिराज जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों एवं समर्थ ग्रन्थकारोंने आचार्य वादीभसिंहकी प्रतिभा और विद्वत्तादि गुणोंका समुल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना महान् आदरभाव प्रकट किया है और लिखा है कि वे सर्वोत्कृष्ट कवि, श्रेष्ठतम वाग्मी और अद्वितीय गमक थे तथा स्याद्वादविद्याके पारगामी और प्रतिवादियोंके अभिमानचूरक एवं प्रभावशाली विद्वान् थे और इसलिये वे सबके सम्मान योग्य है? इससे जाना जा सकता है कि आचार्य वादीभसिंह एक महान् दार्शनिक, वादी, कवि और दृष्टिसम्पन्न विद्वान् थे—उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता बहुमुखी थी और उन्हे विद्वानोंमें अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

इनकी तीन कृतियां अब तक उपलब्ध हुई हैं। वे ये हैं—

१. **स्याद्वादसिद्धि**—प्रस्तुत ग्रन्थ है।

२. **क्षत्रचूडामणि**—यह उच्च कोटिका एक नीति काव्य है। भारतीय काव्यसाहित्यमें इस जैसा नीति काव्यग्रन्थ

और कोई दृष्टिगोचर नहीं आया। इसकी सूक्तियाँ और उपदेश हृदयस्पर्शी हैं। यह पद्यात्मक रचना है। इसमें क्षत्रियमुकुट जीवन्धरके, जो भगवान महावीरके समकालीन और सत्यन्धर नरेशके राजपुत्र थे, चरितका चित्रण किया गया है। उन्होंने भगवानसे दीक्षा लेकर निर्वाण लाभ किया था और इससे पूर्व अपने शौर्य एवं पराक्रमसे शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके नीतिपूर्वक राज्यका शासन किया था।

३. गद्यचिन्तामणि—यह ग्रन्थकारकी गद्यात्मक काव्य-रचना है। इसमें भी जीवन्धरका चरित निबद्ध है। रचना बड़ी ही सरस, सरल और अपूर्व है। पदलालित्य, वाक्यविन्यास, अनुप्रास और शब्दावलीकी छटा ये सब इसमें मौजूद हैं। जैन काव्यसाहित्यकी विशेषता यह है कि उसमें शृंगारका वर्णन गौण हुए भी वह शान्त—प्रधान रहता है और विरागता एवं आध्यात्मिकता लक्ष्य तथा मुख्य वर्णनीय होती है। यही बात इन दोनों काव्यग्रन्थोंमें है। काव्यग्रन्थके प्रेमियोंको ये दोनों काव्यग्रन्थ अवश्य ही पढ़ने योग्य हैं।

प्रमाणनौका और नवपदार्थनिश्चय ये दो ग्रन्थ भी वादीभसिंहके माने जाते हैं। प्रमाणनौका हमें उपलब्ध नहीं हो सकी और इसलिये उसके बारेमें नहीं कहा जा सकता है कि वह प्रस्तुत वादीभसिंहकी ही कृति है अथवा उनसे उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना है। नवपदार्थनिश्चय हमारे सामने है और जिसका परिचय अनेकान्त वर्ष १० किरण ४-५ में दिया गया है। इस परिचयमें हम इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि यह रचना स्याद्वादसिद्धि जैसे प्रौढ़ ग्रन्थोंके रचयिताकी, प्रौढ़ कृति नहीं होती। साधारण भाषा, विषय और कथनशैली-

प्राय: उतने प्रौढ नहीं हैं जितने उनमें हैं और न ग्रन्थका जैसा नाम है वैसा इसमें महत्वका विवेचन है—साधारण तौरसे नव-पदार्थोंके मात्र लक्षणादि दिये गये हैं। अन्त:परीक्षणपरसे यह प्रसिद्ध और प्राचीन तर्क-काव्यग्रन्थकार वादीभसिंहसूरिसे भिन्न और उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना जान पड़ती है। ग्रन्थके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य पाया जाता है उसमें इसे 'भट्टारक वादीभसिंहसूरि' की कृति प्रकट भी किया गया है[1]। यह रचना ७२ अनुष्टुप् और १ मालिनी कुल ७३ पद्योंमें समाप्त है। रचना साधारण और औपदेशिक है और प्राय: अशुद्ध है। विद्वानोंको इसके साहित्यादिपर विशेष विचार करके उसके समयादिका निर्णय करना चाहिए।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है। आशा है इस प्रयत्नसे पाठकोंको कुछ लाभ पहुँचेगा।

जैन-पुस्तक भण्डार,
२३ दरियागंज, देहली,
७ अप्रेल १९५०

—दरबारीलाल कोठिया,
(न्यायाचार्य)

---

१ 'इति श्रीभट्टारकवादीभसिंहसूरिविरचितो नवपदार्थनिश्चयः'।

बिना कारणके असम्भव है, क्योंकि स्त्री कहीं अन्तक—घातक का भी काम करती हुई देखी जाती है—किसीको वह विषादि देकर मारनेवाली भी होती है।

क्या बात है कि सर्वाङ्ग सुन्दर होनेपर भी कोई किसीके द्वारा ताडन-वध-बन्धनादिको प्राप्त होता है और कोई तोता मैना आदि पक्षी अपने भक्तोंद्वारा भी रक्षित होते हुए बड़े प्रेमसे पाले पोषे जाते हैं ?

अतः इन सब बातोंसे प्राणियोंके सुख-दुखके अन्तरङ्ग कारण धर्म और अधर्म अनुमानित होते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—धर्म और अधर्म है, क्योंकि प्राणियोंको सुख अथवा दुख अन्यथा नहीं हो सकता।' जैसे पुत्रके सद्भावसे उसके पितारूप कारणका अनुमान किया जाता है।

चार्वाक—अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार, अर्थके अभावमें होना देखा जाता है ?

जैन—यह बात तो प्रत्यक्षमें भी समान है, क्योंकि उसमें भी व्यभिचार देखा जाता है—सीपमें चांदीका, रज्जुमें सर्पका और बालोंमे कीडोंका प्रत्यक्षज्ञान अर्थके अभावमें भी देखा गया है और इस लिये प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें कोई विशेषता नहीं है जिससे प्रत्यक्षको तो प्रमाण कहा जाय और अनुमानको अप्रमाण।

चार्वाक—जो प्रत्यक्ष निर्बाध है वह प्रमाण माना गया है और जो निर्बाध नहीं है वह प्रमाण नहीं माना गया। अत एव सीपमें चांदीका आदि प्रत्यक्षज्ञान निर्बाध न होनेसे प्रमाण नहीं हैं ?

जैन—तो जिस अनुमानमें बाधा नहीं है—निर्बाध है उसे भी प्रत्यक्षकी तरह प्रमाण मानिये, क्योंकि प्रत्यक्षविशेषकी तरह

है—शरीर तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे ग्रहण किया जाता है और ज्ञान स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे। यह कौन नहीं जानता कि शरीर तो आंखों से देखा जाता है किंतु ज्ञान आंखोंसे देखनेमे नहीं आता[1]। अतः दोनोंकी विभिन्न प्रमाणोंसे प्रतीति होनेसे उनमे परस्पर कारणकार्यभाव नहीं है। जिनमे कारणकार्यभाव होता है वे विभिन्न प्रमाणोंसे गृहीत नहीं होते। अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है। और इसलिये वह अहेतुक—नित्य भी सिद्ध है।

चार्वाक—यदि ज्ञान शरीरका कार्य नहीं है तो न हो पर वह शरीरका स्वभाव अवश्य है और इसलिये वह शरीरसे भिन्न तत्त्व नहीं है, अतः उक्त हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध है?

जैन—नहीं, दोनोंकी पर्यायें भिन्न भिन्न देखी जाती हैं, जिस तरह शरीरसे बाल्यादि अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं उस तरह रागादिपर्यायें उससे उत्पन्न नहीं होतीं—वे चैतन्यस्वरूप आत्मासे ही उत्पन्न होती हैं। किंतु जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे भिन्न पर्यायवाला नहीं होता। जैसे सड़े महुआ और गुडादिकसे उत्पन्न मदिरा उनका स्वभाव होनेसे भिन्न द्रव्य नहीं है और न भिन्न पर्यायवाली है। अतः सिद्ध है कि ज्ञान शरीरका स्वभाव नहीं है।

अत एव प्रमाणित होता है कि आत्मा भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व है और वह उसका न कार्य है तथा न स्वभाव है।

---

१ शरीरे दृश्यमानेऽपि न चैतन्यं विलोक्यते।
शरीरं न च चैतन्यं यतो भेदस्तयोस्ततः॥
चक्षुषा वीक्ष्यते गात्रं चैतन्यं संविदा यतः।
भिन्नज्ञानोपलम्भेन ततो भेदस्तयोः स्फुटम्॥ —पद्मपुराण।

मिलता है अन्यको नहीं। किंतु जब आप आत्माको निरन्वय क्षणिक मानते हैं तो उसके नाश होजानेपर फल दूसरा चित्त ही भोगेगा, जो कर्ता नहीं है और तब 'कर्ताको ही फल प्राप्त होता है' यह कैसे सम्भव है ?

बौद्ध—जैसे पिताको कमाईका फल पुत्रको मिलता है और यह कहा जाता है कि पिताको फल मिला उसी तरह कर्ता आत्माको भी फल प्राप्त हो जाता है ?

जैन—आपका यह केवल कहना मात्र है—उससे प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अन्यथा पुत्रके भोजन कर लेनेसे पिताके भी भोजन कर लेनेका प्रसंग आवेगा।

बौद्ध—व्यवहार अथवा संवृत्तिसे कर्ता फलभोक्ता बन जाता है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—हमारा प्रश्न है कि व्यवहार अथवा संवृत्तिसे आपको क्या अर्थ विवक्षित है ? धर्मकर्ताको फल प्राप्त होता है, यह अर्थ विवक्षित है अथवा धर्मकर्ताको फल प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ इष्ट है या धर्मकर्ताको कथंचित् फल प्राप्त होता है, यह अर्थ अभिप्रेत है ? प्रथमके दो पक्षोंमें वही दूषण आते हैं जो ऊपर कहे जा चुके हैं और इस लिये ये दोनों पक्ष तो निर्दोष नहीं हैं। तीसरा पक्ष भी बौद्धोंके लिये इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उससे उनके क्षणिक सिद्धान्तको हानि होती है और स्याद्वादमतका प्रसङ्ग आता है।

दूसरे, यदि संवृत्तिसे धर्मकर्ता फलभोक्ता हो तो संसार अवस्थामें जिस चित्तने धर्म किया था उसे मुक्त अवस्थामें भी संवृत्तिसे उसका फलभोक्ता मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि जिस संसारी चित्तने धर्म किया था उस संसारी चित्तको ही

जाने चाहिए किन्तु वे नहीं होते। एक कार्यको करनारूप सन्तति भी नहीं बनती; क्योंकि क्षणिकवादमे उस प्रकारका ज्ञान ही सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि एकत्ववासनासे उक्त ज्ञान हो सकता है अर्थात् जहां 'सोऽहं'—'वही मैं हूं' इस प्रकारका ज्ञान होता है वहीं उपादानोपादेयरूप सन्तति मानी गई है और उक्त ज्ञान एकत्ववासनासे होता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस प्रकार है—जब एकत्वज्ञान सिद्ध हो तब एकत्व-वासना बने और जब एकत्ववासना बन जाय तब एकत्वज्ञान सिद्ध हो। और इस तरह दोनों ही असिद्ध रहते हैं। केवल कार्य-कारणरूपतासे सन्तति मानना भी उचित नहीं है, अन्यथा बुद्ध और संसारियोंमें भी एक सन्तानका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि उन मे कार्यकारणभाव है—वे बुद्धके द्वारा जाने जाते है और यह नियम है कि जो कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता—अर्थात् जाना नहीं जाता। तात्पर्य यह कि कारण ही ज्ञानका विषय होता है और संसारी बुद्धके विषय होनेसे वे कारण हैं तथा बुद्धचित्त उनका कार्य है अतः उनमें भी एक सन्ततिका प्रसंग आता है।

अतः आत्माको सर्वथा क्षणिक और निरन्वय माननेपर धर्म तथा धर्मफल दोनों ही नहीं बनते, किंतु उसे कथंचित् क्षणिक और अन्वयी स्वीकार करनेसे वे दोनों बन जाते हैं। 'जो मैं बाल्यावस्थामें था वही उस अवस्थाको छोड़कर अब मैं युवा हूं।' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामका निर्बाध ज्ञान होता है और जिससे आत्मा कथंचित् नित्य तथा अनित्य प्रतीत होता है और प्रतीतिके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था है।

जैन— यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्पको आपने अप्रमाण माना है। अपि च, यह कल्पनात्मक व्यावृत्ति वस्तुओंमें सम्भव नहीं है अन्यथा वस्तु और अवस्तुमें साङ्कर्य होजायगा।

इसके सिवाय, खण्डादिमें जिस तरह अगोनिवृत्ति है उसी तरह गुल्मादिमें भी वह है, क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है— भेद तो वस्तुनिष्ठ है और व्यावृत्ति अवस्तु है। और उस हालतमें 'गायको लाओ' कहनेपर जिसप्रकार खण्डादिका आनयन होता है उसीप्रकार गुल्मादिका भी आनयन होना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'अगोनिवृत्तिका खण्डादिमें संकेत है, अतः 'गायको लाओ' कहनेपर खण्डादिरूप गायका ही आनयन होता है, गुल्मादिका नहीं, क्योंकि वे अगो हैं—गो नहीं हैं' तो यह कहना भी संगत नहीं है। कारण, अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है। खण्डादिमें गोपना जब सिद्ध होजाय तो उससे गुल्मादिमें अगोपना सिद्ध हो और उनके अगो सिद्ध होनेपर खण्डादिमें गोपना की सिद्ध हो।

अगर यह कहें कि 'वहनादि कार्य खण्डादिमें ही संभव हैं, अतः 'गो' का व्यपदेश उन्हींमें होता है, गुल्मादिकमें नहीं' तो यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वह कार्य भी उक्त गुल्मादिमें क्यों नहीं होता, क्योंकि उस कार्यका नियामक अपोह ही है और वह अपोह सब जगह अविशिष्ट है।

तात्पर्य यह कि अपोहकृत वस्तुमें धर्मभेदकी कल्पना उचित नहीं है, किन्तु स्वरूपतः ही उसे मानना संगत है। अतः जिस प्रकार एक ही चित्त पूर्व क्षणकी अपेक्षा कार्य और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कारण होनेसे एक साथ उसमें कार्यता और कारणतारूप दोनों धर्म वास्तविक सिद्ध होते हैं उसी प्रकार सब वस्तुएं युगपत् अनेकधर्मात्मक सिद्ध हैं।

होती है जो भिन्न होते है और उपादानोपादेयभाव अभिन्न (एक) मे होता है।

बौद्ध—बात यह है कि पिता पुत्रमे देश-कालकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य नहीं है और उसके न होनेसे उनमे उपादानोपादेयभाव नही है। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमे नैरन्तर्य होनेसे उपादानोपादेयभाव है?

जैन—यह कहना भी युक्त नहीं है, कारण बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणरूप क्षणोंसे भिन्न देशकालादिको नहीं माना गया है और तब उनकी अपेक्षासे कल्पित नैरन्तर्य भी उनके यहां नहीं बन सकता है। अतः उससे उक्त क्षणोंमे उपादानोपादेयभावकी कल्पना और पिता-पुत्रमे उसका निषेध करना सर्वथा असंगत है।

अतः कार्यकारणरूपसे सर्वथा भिन्न भी क्षणोंमे कार्यकारणभावकी सिद्धिके लिये उनमे एक अन्वयी द्रव्यरूप सन्तान अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

एक बात और है। जब आप क्षणोंमे निर्बाध प्रत्ययसे भेद स्वीकार करते है तो उनमे निर्बाध प्रत्ययसे ही अभेद (एकत्व-एकपना) भी मानना चाहिए, क्योंकि वे दोनों ही वस्तुमें सुप्रतीत होते हैं।

यदि कहा जाय कि दोनोंमे परस्पर विरोध होनेसे वे दोनों वस्तुमे, नहीं माने जा सकते है तो यह कहना भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि अनुपलभ्यमानोंमे विरोध होता है, उपलभ्यमानोंमे नहीं। और भेद अभेद दोनों वस्तुमे उपलब्ध होते हैं। अतः भेद और अभेद दोनों रूप वस्तु मानना चाहिए।

यहां एक बात और विचारणीय है। वह यह कि आप (बौद्धों) के यहाँ सत् कार्य माना गया है या असत् कार्य? दोनों

और अन्यथानुपपत्ति ही हेतुकी गमकतामे प्रयोजक है, पक्षधर्मत्वादि नहीं। कृत्तिकोदय हेतुमे पक्षधर्मत्व नहीं है किन्तु अन्यथानुपपत्ति है, अत. उसे गमक स्वीकार किया गया है। और तत्पुत्रत्वादि हेतुमें पक्षधर्मत्वादि तीनों है, पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है और इसलिये उसे गमक स्वीकार नहीं किया गया है।

अतएव हेतु, साध्य, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि चित्तक्षणोंमे एकपनेके विना नहीं वन सकते है, इसलिये वस्तुमे क्रमसे अनेकान्त भी सहानेकान्तकी तरह सुस्थित होता है।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि

वस्तुको सर्वथा नित्य मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस हालतमे आत्माके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों नहीं वन सकते हैं। कर्तृत्व माननेपर भोक्तृत्व और भोक्तृत्व माननेपर कर्तृत्वके अभावका प्रसग आता है, क्योंकि ये दोनों धर्म आत्मामे एक साथ नहीं होते— क्रमसे होते है और क्रमसे उन्हे स्वीकार करने पर वस्तु नित्य नहीं रहती। कारण, कर्तृत्वको छोड़कर भोक्तृत्व और भोक्तृत्वको त्यागकर कर्तृत्व होता है और ये दोनों ही आत्मासे अभिन्न होते हैं। यदि उन्हे भिन्न माने तो 'वे आत्माके है अन्यके नहीं' यह व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि उनका आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है और इसलिये 'वे आत्माके है, अन्यके नहीं' यह व्यपदेश हो जाता है तो यह कहना योग्य नहीं है, क्योंकि उक्त समवाय प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे प्रतीत नहीं होता। यदि प्रत्यक्षसे प्रतीत होता तो उसमें विवाद ही नहीं होता, किन्तु विवाद देखा जाता है।

यौग—आगमसे समवाय सिद्ध है, अत: उक्त दोष नही है?

जैन—नहीं, जिस आगमसे वह सिद्ध है उसकी प्रमाणता

अनिश्चित है। अतः इससे समवायकी सिद्धि बतलाना असंगत है।

यौग—समवायकी सिद्धि निम्न अनुमानसे होती है:—'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है' यह बुद्धि सम्बन्धपूर्वक है, क्योंकि वह 'इहेदं' बुद्धि है। जैसे 'इस कुण्डमें यह दही है' यह बुद्धि। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'इस कुण्डमें यह दही है' यह ज्ञान संयोग सम्बन्धके निमित्तसे होता है उसी प्रकार 'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है', यह ज्ञान भी समवाय सम्बन्धपूर्वक होता है। अतः समवाय अनुमानसे सिद्ध है?

जैन—नहीं। उक्त हेतु 'इस वनमें यह आम्रादि है' इस ज्ञानके साथ व्यभिचारी है क्योंकि यह ज्ञान 'इहेदं' रूप तो है किन्तु किसी अन्य सम्बन्ध-पूर्वक नहीं होता और न यौगोंने उसमें समवाय या अन्य सम्बन्ध स्वीकार किया भी है। केवल उसे उन्होंने अन्तरालाभावपूर्वक प्रतिपादन किया है और यह प्रकट है कि अन्तरालाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतः इस अन्तरालाभाव-पूर्वक होनेवाले 'इहेदं' रूप ज्ञानके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी होनेसे उसके द्वारा समवायकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

ऐसी हालतमें बुद्ध्यादि एवं कर्तृत्वादिसे आत्मा भिन्न ही रहेगा और तब वह आत्मा धर्मकर्ता अथवा फल-भोक्ता कैसे बन सकता है? अतः क्षणिकैकान्तकी तरह नित्यैकान्तका मानना भी निरस्त है।

अपि च, आप यह बतलायें कि समवाय क्या काम करता है? आत्मा और बुद्ध्यादिमें अभेद करता है, अथवा उनके भेदको मिटाता है? अन्य विकल्प सम्भव नहीं है? प्रथम पक्षमें बुद्ध्यादिकी तरह आत्मा अनित्य हो जायगा अथवा आत्माकी तरह बुद्ध्यादि नित्य हो जायेंगे; क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। दूसरे पक्षमें आत्मा और बुद्ध्यादिके भेद मिटानेका —

दिकी तरह वे दोनों स्वतंत्र हो जायेंगे। अतः समवायसे पहले इनमे न तो भेद ही माना जा सकता है और न अभेद ही, क्योंकि उक्त दूषण आते हैं। तथा भेदाभेद उनमे आपने स्वीकार नहीं किया तब समवायको माननेसे क्या फल है?

यौग—भेदको हमने अन्योन्याभावरूप माना है अतः आत्मा और बुद्ध्यादिमे स्वतंत्रपनेका प्रसंग नहीं आता?

जैन—यह कहना भी आपका ठीक नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभावमें भी घट-पटादिकी तरह स्वतन्त्रता रहेगी—वह मिट नहीं सकती। यदि वह मिट भी जाय तो अभेद होनेसे उक्त नित्यता-अनित्यताका दोष तदवस्थित है।

यौग—पृथक्त्व गुणसे उनमे भेद बन जाता है अतः अभेद होनेका प्रसंग नहीं आता और न फिर उसमे उक्त दोष रहता है?

जैन—नहीं, पृथक्त्व गुणसे भेद मानने पर पूर्ववत् आत्मा और बुद्ध्यादिमें घटादिककी तरह भेद प्रसक्त होगा ही।

एक बात और है। समवायसे आत्मामे बुद्ध्यादिका सम्बन्ध माननेपर मुक्तजीवमें भी उनका सम्बन्ध मानना पड़ेगा, क्योंकि वह व्यापक और एक है।

यौग—बुद्ध्यादि अमुक्त-प्रभव धर्म है, अतः मुक्तोंमे उनके संबन्धका प्रसंग खड़ा नहीं होसकता है?

जैन—नहीं, बुद्ध्यादि मुक्तप्रभव धर्म क्यों नहीं है, इसका क्या समाधान है? क्योंकि बुद्ध्यादिका जनक आत्मा है और वह मुक्त तथा अमुक्त दोनों अवस्थाओंमें समान है? अन्यथा जनकस्वभावको छोड़ने और अजनकस्वभावको ग्रहण करनेसे आत्माके नित्यपनेका अभाव आवेगा।

यौग—बुद्ध्यादि अमुक्त समवेतधर्म हैं, इसलिये वे अमुक्त-प्रभव हैं - मुक्तप्रभव नहीं हैं?

तरह वह नित्यानित्यरूप सिद्ध होनेसे स्याद्वादकी ही सिद्धि करेगा—कूटस्थ नित्यकी नहीं।

अपि च, उसे कूटस्थ नित्य माननेपर उसके वक्तापन बनता भी नहीं है। क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नहीं है। आगमको प्रमाण माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है। स्पष्ट है कि जब वह सर्वज्ञ सिद्ध होजाय तो उसका उपदेशरूप आगम प्रमाण सिद्ध हो और जब आगम प्रमाण सिद्ध हो तब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो।

इसीतरह शरीर भी उसके नहीं बनता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदरूप आगम प्रमाण नहीं है क्योंकि उसमें परस्पर-विरोधी अर्थोंका कथन पाया जाता है। सभी वस्तुओंको उसमे सर्वथा भेदरूप अथवा सर्वथा अभेदरूप बतलाया गया है। इसीप्रकार प्राभाकर वेदवाक्यका अर्थ नियोग, भाट्ट भावना और वेदान्ती विधि करते हैं और ये तीनों परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी हालतमे यह निश्चय नहीं होसकता कि अमुक अर्थ प्रमाण है और अमुक नहीं।

अतः वेद भी निरुपाय एवं अशरीरी सर्वज्ञका साधक नहीं है और इसलिये नित्यैकान्तमे सर्वज्ञका भी अभाव सुनिश्चित है।

७. जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि

किन्तु हां, सोपाय वीतराग एवं हितोपदेशी सर्वज्ञ होसकता है क्योंकि उसका साधक अनुमान विद्यमान है। वह अनुमान यह है—

'कोई पुरुष समस्त पदार्थोंका साक्षात्कर्ता है, क्योंकि ज्योतिष-[illegible] उपदेश अन्यथा नहीं होसकता।' इस अनुमानसे [illegible] सिद्धि होती है।

पर ध्यान रहे, कि यह अनुमान अनन्तावसिद्ध सर्वज्ञका साधक नहीं है, क्योंकि वह पक्ष नहीं है। सोपागमुक्त बुद्धादि यद्यपि पक्ष हैं किन्तु उनके वचन सदोष होनेसे वे भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते।

इसके, बौद्धोंने बुद्धको 'विगलत्कल्पनाजाल' अर्थात् कल्पनाओंसे रहित कहकर उनकी अज्ञता भी प्रकट किया है और अवक्ता होनेसे वे सर्वज्ञ नहीं हैं।

तथा यौगों (नैयायिकों और वैशेषिकों) द्वारा अभिमत महेश्वर भी पर-पर-द्रोही दैत्यादिका स्रष्टा होनेसे सर्वज्ञ नहीं हैं।

यौग—महेश्वर जगतका कर्त्ता है, अतः वह सर्वज्ञ है, क्योंकि बिना सर्वज्ञताके उससे इस सुव्यवस्थित एवं सुन्दर जगतकी सृष्टि नहीं हो सकती है?

जैन—नहीं, क्योंकि महेश्वरको जगत्कर्त्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

यौग—निम्न प्रमाण है—'पर्वत आदि बुद्धिमानद्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं तथा जड-उपादान-जन्य हैं। जैसे घटादिक।' जो बुद्धिमान उनका कर्त्ता है वह महेश्वर है। वह यदि असर्वज्ञ हो तो पर्वतादि उन कार्योंके समस्त कारकोंका उसे परिज्ञान न होनेसे वे असुन्दर, अव्यवस्थित और बेडौल भी उत्पन्न हो जायेंगे। अतः पर्वतादिका बनानेवाला सर्वज्ञ है?

जैन—यह कहना भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि यदि वह सर्वज्ञ होता तो वह अपने तथा दूसरोंके घातक दैत्यादि दुष्ट जीवोंकी सृष्टि न करता। दूसरी बात यह है कि उसे आपने अशरीरी भी माना है पर बिना शरीरके वह जगतका कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि उसके शरीरकी कल्पना की जाय तो महेश्वरका संसारी होना, उस देहके लिये अन्य-अन्य शरीरकी कल्पना करना आदि

अनेक दोष आते हैं। अतः महेश्वर जगतका कर्त्ता नहीं है और तब उसे उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना अयुक्त है।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि

इस तरह न बुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध होता है और न महेश्वर आदि। पर ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है, अतः अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा अर्हन्त भगवान ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

मीमांसक—अर्हन्त वक्ता है, पुरुष है और प्राणादिमान् है, अतः हम लोगोंकी तरह वे भी सर्वज्ञ नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वक्तापन आदिका सर्वज्ञपनेके साथ विरोध नहीं है। स्पष्ट है कि जो जितना अधिक ज्ञानवान् होगा वह उतना ही उत्कृष्ट वक्ता आदि होगा। आपने भी अपने मीमांसादर्शनकार जैमिनिको उत्कृष्ट ज्ञानके साथ ही उत्कृष्ट वक्ता आदि स्वीकार किया है।

मीमांसक—अर्हन्त वीतराग है, इसलिये उनके इच्छाके बिना वचनप्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

जैन—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छाके बिना भी सोते समय अथवा गोत्रस्खलन आदिमें वचनप्रवृत्ति देखी जाती है और इच्छा करनेपर भी मूर्ख शास्त्रवक्ता नहीं हो पाता। दूसरे, सर्वज्ञके निर्दोष इच्छा माननेमें भी कोई बाधा नहीं है और उस दशामें अर्हन्त भगवान् वक्ता सिद्ध है।

मीमांसक—अर्हन्तके वचन प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे पुरुषके वचन हैं, जैसे बुद्धके वचन ?

जैन—यह कथन भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि दोषवान् वचनोंको ही अप्रमाण माना गया है, निर्दोष वचनोंको नहीं। अतः

अर्हन्तके वचन निर्दोष होनेसे प्रमाण हैं और इसलिये वे ही सर्वज्ञ सिद्ध हैं।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो 'ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है' यह अर्थापत्ति प्रमाण दिया गया है उसे मीमांसकोंकी तरह जैन भी प्रमाण मानते हैं, अतः उसे अप्रमाण होने अथवा उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध न होनेकी शंका निर्मूल हो जाती है। अथवा, अर्थापत्ति अनुमानरूप ही है। और अनुमान प्रमाण है।

यदि कहा जाय कि अनुमानमें तो दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है और उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें ही होता है किन्तु अर्थापत्तिमें दृष्टान्तकी अपेक्षा नहीं होती और न उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें होता है अपितु पक्षमें ही होता है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि दोनोंमें कोई भेद नहीं है—दोनों ही जगह अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही किया जाता है। सर्व विदित है कि अद्वैतवादियोंके लिये प्रमाणोंका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये जो 'इष्टसाधन' रूप अनुमान प्रमाण दिया जाता है उसके अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही होता है क्योंकि वहाँ दृष्टान्त का अभाव है। अतः जिस तरह वहाँ प्रमाणोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेमें दृष्टान्तके बिना भी पक्षमें ही अविनाभावका निर्णय हो जाता है, उसी तरह अन्य हेतुओंमें भी समझ लेना चाहिए। तथा इस अविनाभावका निर्णय विपक्षमें बाधक प्रमाणके प्रदर्शन एवं तर्कसे होता है। प्रत्यक्षादिसे उसका निर्णय असम्भव है और इसी लिये व्याप्ति एवं अविनाभावको ग्रहण करनेवाले तर्कको पृथक् प्रमाण स्वीकार किया गया है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि

मीमांसक—ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश अपौरुषेय वेदसे संभव है, अतः उसके लिये सर्वज्ञ स्वीकार करना उचित नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वेद पद वाक्यादिरूप होनेसे पौरुषेय है, जैसे भारत आदि शास्त्र।

मीमांसक—वेदमे जो वर्ण है वे नित्य हैं, अतः उनके समूहरूप पद और पदोके समूहरूप वाक्य नित्य होनेसे उनका समूहरूप वेद भी नित्य है—वह पौरुषेय नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वर्ण भिन्न-भिन्न देशों और कालोंमें भिन्न-भिन्न पाये जाते है, इसलिये वे अनित्य हैं। दूसरे, ओठ, तालु आदिके प्रयत्नपूर्वक वे होते है और जो प्रयत्नपूर्वक होता है वह अनित्य माना गया है। जैसे घटादिक।

मीमांसक—प्रदीपादिकी तरह वर्णोंकी ओठ, तालु आदिके द्वारा अभिव्यक्ति होती है—उत्पत्ति नहीं। दूसरे, 'यह वही गकारादि है" ऐसी प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञा होनेसे वर्ण नित्य हैं ?

जैन—नहीं, ओठ, तालु आदि वर्णोंके व्यंजक नहीं हैं वे उनके कारक है। जैसे दण्डादिक घटादिके कारक हैं। अन्यथा घटादि भी नित्य होजायेगे। क्योंकि हम भी कह सकते हैं कि दण्डादिक घटादि के व्यंजक है कारक नहीं। दूसरे, 'वही मैं हूँ' इस प्रत्यभिज्ञासे एक आत्माकी भी सिद्धिका प्रसंग आवेगा। यदि इसे भ्रान्त कहा जाय तो उक्त प्रत्यभिज्ञा भी भ्रान्त क्यों नहीं कही जा सकती है।

मीमांसक—आप वर्णोंको पुद्गलका परिणाम मानते है किन्तु जड पुद्गलपरमाणुओंका सम्बन्ध स्वयं नहीं होसकता। इसके सिवाय, वे एक श्रोताके कानमे प्रविष्ट होजानेपर उसी समय अन्यके द्वारा सुने नहीं जा सकेंगे ?

जैन—यह बात तो वर्णोंकी व्यंजक ध्वनियोंमें भी लागू हो सकती है। क्योंकि ये न तो वर्णरूप हैं और न स्वयं अपनी व्यंजक हैं। दूसरे, स्वाभाविक योग्यतारूप संकेतसे शब्दोंको हमारे यहाँ अर्थप्रतिपत्ति कराने वाला स्वीकार किया गया है और लोकमें सब जगह भाषावर्गणाएँ मानी गई हैं जो शब्द रूप बनकर सभी श्रोताओं द्वारा सुनी जाती हैं।

मीमांसक—'वेदका अध्ययन वेदके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह वेदका अध्ययन है, जैसे आजकलका वेदाध्ययन।' इस अनुमानसे वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है?

जैन—नहीं, क्योंकि उक्त हेतु अप्रयोजक है—हम भी कह सकते हैं कि 'पिटकका अध्ययन पिटकके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह पिटकका अध्ययन है, जैसे आजकलका पिटकाध्ययन।' इस अनुमानसे पिटक भी अपौरुषेय सिद्ध होता है।

मीमांसक—बात यह है कि पिटकमें तो बौद्ध कर्ताका स्मरण करते हैं और इसलिये वह अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु वेदमें कर्ताका स्मरण नहीं किया जाता, अतः वह अपौरुषेय सिद्ध होता है?

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि बौद्धोंके पिटक कर्तृस्मरणको आप प्रमाण मानते हैं तो वे वेदमें भी अष्टकादिकको कर्ता स्मरण करते हैं अर्थात् वेदको भी वे सकर्तृक बतलाते हैं, अतः उसे भी प्रमाण स्वीकार करिये। अन्यथा दोनोंको अप्रमाण कहिए। अतः कर्ताके अस्मरणसे भी वेद अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता और उस हालतमें वह पौरुषेय ही सिद्ध होता है।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि

मीमांसक—वेद स्वतः प्रमाण है, क्योंकि सभी प्रमाणोंमें प्रामाण्य हमारे यहाँ स्वतः ही माना गया है, अतः वह पौरुषेय नहीं है?

जैन—नहीं, क्योंकि अप्रमाणताकी तरह प्रमाणोंकी प्रमाणता भी स्वतः नही होती, गुणादि सामग्रीसे वह होती है। इन्द्रियोंके निर्दोष—निर्मल होनेसे प्रत्यक्षमें, त्रिरूपतासहित हेतुसे अनुमानमें और आप्तद्वारा कहा होनेसे आगममे प्रमाणता मानी गई है और निर्मलता आदि ही 'पर' है, अतः प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे सिद्ध है और ज्ञप्ति भी अनभ्यास दशामें परसे सिद्ध है। हां, अभ्यास दशामे ज्ञप्ति स्वतः होती है। अतः परसे प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर कोई भी प्रमाण स्वतः प्रमाण सिद्ध नहीं होता और इसलिये वेद पौरुषेय है तथा वह सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१२. अभावप्रमाणदूषणसिद्धि

अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि भावप्रमाणसे अतिरिक्त अभावप्रमाणकी प्रतीति नही होती। प्रकट है कि 'यहा घड़ा नहीं है' इत्यादि जगह जो अभावज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष, स्मरण और अनुमान इन तीन ज्ञानोंसे भिन्न नहीं है। 'यहां' यह प्रत्यक्ष है, 'घड़ा' यह पूर्व दृष्ट घड़ेका स्मरण है और 'नहीं है' यह अनुपलब्धिजन्य अनुमान है। यहा और कोई ग्राह्य है नहीं जिसे अभावप्रमाण जाने। दूसरे, वस्तु भावाभावात्मक है और भावको जाननेवाला भावप्रमाण ही उससे अभिन्न अभावको भी जान लेता है, अतः उसको जाननेके लिये अभावप्रमाणकी कल्पना निरर्थक है। अतएव वह भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१३. तर्कप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञका बाधक जब कोई प्रमाण सिद्ध न हो सका तो मीमांसक एक अन्तिम शंका और उठाता है। वह कहता है कि सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो हेतु ऊपर दिया गया है उसके अविनाभावका ज्ञान असंभव है, क्योंकि उसको ग्रहण करने

वाला तर्क अप्रमाण है, और इस हालतमें अन्य अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती है? पर उसकी यह शंका भी निस्सार है क्योंकि व्याप्ति (अविनाभाव)को प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। व्याप्ति तो सर्वदेश और सर्वकालको लेकर होती है और प्रत्यक्षादि नियत देश और नियत कालमें ही प्रवृत्त होते हैं। अतः व्याप्तिका ग्रहण करने वाला तर्क प्रमाण है और उसके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उक्त सर्वज्ञ साधक हेतुके अविनाभावका ज्ञान उसके द्वारा पूर्णतः सम्भव है। अतः उक्त हेतुसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि कोई भी दोष न होनेसे उससे सर्वज्ञकी सिद्धि भली भांति होती है।

१४. गुण-गुणीअभेदसिद्धि

वास्तविक माने तो संख्याको भी गुणादिमे वास्तविक ही मानें। और तब उनमे एक तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है–समवाय नहीं। अतएव गुणादिकको गुणी आदिसे कथंचित अभिन्न स्वीकार करना चाहिए।

ब्रह्मदूषणसिद्धि

ब्रह्माद्वैतवादियों द्वारा कल्पित ब्रह्म और अविद्या न तो स्वतः प्रतीत होते हैं, अन्यथा विवाद ही न होता, और न प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे; क्योंकि द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग आता है। दूसरे, भेदको मिथ्या और अभेदको सम्यक् बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। कारण, भेद और अभेद दोनों रूप ही वस्तु प्रमाणसे प्रतीत होती है। अतः ब्रह्मवाद ग्राह्य नहीं है।

अन्तिम उपलब्ध खण्डित प्रकरण

शंका—भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध होनेसे वे दोनों एक जगह नहीं बन सकते हैं, अतः उनका प्रतिपादक स्याद्वाद भी ग्राह्य नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे वे दोनों एक जगह प्रतिपादित हैं–पर्यायोंकी अपेक्षा भेद और द्रव्यकी अपेक्षा अभेद बतलाया गया है और इस तरह उनमे कोई विरोध नहीं है। एक ही रूपादिक्षणको जैसे बौद्ध पूर्व क्षणकी अपेक्षा कारण और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कार्य दोनों स्वीकार करते हैं और इसमे वे कोई विरोध नहीं मानते। उसी तरह प्रकृतमे भी समझना चाहिए। अन्यापोहकृत उक्त भेद माननेसे सांकर्यादि दोष आते हैं। अत. स्याद्वाद वस्तुका सम्यक् व्यवस्थापक होनेसे सभीके द्वारा उपादेय एवं आदरणीय है।

— —

विषय-सूची

विषय	कारिका

विषय — कारिका

(शेषांश पृ० २६ पर देखिए)

परोक्त्यैवाऽनुमेष्टा चेत्, स्वोक्त्या सा नेष्यतः(ष्टता) कुतः ?
व्यभिचारेण तन्नेष्या, नाऽध्यक्षं चाविशेषतः ॥७॥
निर्बाधं तत्प्रमाणं चेत्, अनुमाऽप्यस्तु तादृशी।
पितामहानुमानं हि निर्बाधत्वेन सम्मतम् ॥८॥
धर्मादि-कार्य-सिद्धेश्च तत्कर्त्ताऽऽत्माऽपि सिद्ध्यति।
[कार्यं हि] कर्तृ-सापेक्षं तद्धर्मादि सुखावहम् ॥९॥
'तत्कर्ताऽऽत्माऽस्ति, सौख्यादेरन्यथानुपपत्तितः।'
इत्यर्थापत्तितः सिद्ध्येत्स आत्मा परलोक-भाक् ॥१०॥
न हि सौख्यादिकार्यस्य धर्मादेरिह दर्शनम्।
तत्तत्कर्त्ता भवेत्प्राक् च पश्चाच्चेत्तस्य नित्यता ॥११॥
तत्त्वान्तरं सदा चित्, सु-सदहेतुक-भावतः।
पृ[थिव्यादिभ्य इ]त्येवमनुमाऽप्यस्य साधनम् ॥१२॥
चिदस्तित्वे विवादो न चार्वाकस्याऽपि, तेन च।
भूत-संहति-कार्यस्य ज्ञानरूपस्य कल्पनात् ॥१३॥
नेयं कायस्य कार्यं स्यादात्मज्ञेनाऽप्यतद्ग्रहात्।
गृह्यते हि घटादिकैर्विकार्यपि मृदादिकम् ॥१४॥
स्वसंवेदनात्तज्जाभ्यां हि नीय[मानत्वमे]नयोः।
प्रतीति-भिन्न-मानाभ्यां नैवं कारण कार्ययोः ॥१५॥
भूतसंहति कार्यत्वं तन्न ज्ञानात्मकाऽऽत्मनः।
इत्यहेतुकता-सिद्धेर्हेतोर्नासिद्धिदूषणम् ॥१६॥
अविनाभाविताऽप्यस्य व्यभिचाराद्यभावतः।
कादाचित्कं न दृष्टं हि किञ्चिच्च सदहेतुकम् ॥१७॥
ज्ञानं [कायस्वभाव] स्यात्तन्न तत्त्वान्तरं ततः।
प्रतिज्ञार्थैकदेशः (शोऽ)स्यात्सि (सि)द्धिरित्यपि दुर्मतम् ॥१८॥

कृ[तस्य कर्त्रा धर्म]स्य कर्त्रा लब्धं हि नापरैः ।
अस्मिन्मृतेऽन्यलब्ध तु तेन लब्ध कथं भवेत् ॥४॥

पुत्रादिलब्धं तल्लब्धमिति वागेव नार्थवत् ।
अन्यथा पुत्रभुक्त्येव भुक्तवानस्तु तत्पिता ॥५॥

व्यवहारेण सवृत्या वा लब्धं तेन चेन्मतम् ।
संवृति-व्यवहाराभ्यां को नामा[र्थो विवक्षि]तः ॥६॥

धर्मकर्त्रा फलं लब्धमित्यर्थः किं विवक्षितः ।
नैवेत्यर्थोऽथवा लब्धं कथञ्चिदिति वा भवेत् ॥७॥

पूर्वपक्ष-द्वयेऽप्युक्त दूषण, स्व-मत-क्षयात् ।
नेष्टस्तृतीयपक्षोऽपि, तयोरर्थोऽपि नापरः ॥८॥

किञ्च, कर्त्रा फलं लब्ध न वा किमिति [कथ्यताम्] ।
[अ]प्राह्यः फलमस्तीति वाद्यप्रस्तुतसाधनात् ॥९॥

नास्ति कर्त्रेति चेत्कर्तुः फलाभावोऽभिसम्मतः ।
फलाभावेऽपि धर्मोक्तेः सम्मता च स्ववञ्चना ॥१०॥

एकत्व-विभ्रमाद्देही कर्तुरेव फलं वदेत् ।
नैवं योगीति चेदेवमपि स्यात्सोऽपि वञ्चकः ॥११॥

[न धर्मे] एक एवायं तत्फली च तदा वदेत् ।
धर्मोऽकार्यः फलाभावात् कर्तुरित्येव नान्यथा ॥१२॥

किञ्चात्र फलसद्भावात्कर्त्रा लब्धं फल यदि ।
अप्य(न्य)संसार(रि)मात्रेण मुक्तस्याप्यस्तु संवृतिः (तेः) ॥ ३॥

यत्कार्यं येन सञ्जातं फलं तस्यैव तत्ततः ।
संसार(रि)[जना] नामेव फलं मुक्तस्य नेत्यसत् ॥१४॥

फलकृत्वेऽपि तत्कर्त्रा न तु लब्धं हि तत्फलम् ।
तदापि लब्धमित्युक्तौ मुक्तेनापीति कथ्यताम् ॥१५॥

क्वचि[द्वासना-सद्भावे क] चित्तज्ज्ञानसम्भवः ।
तत्सम्भवे क्वचिद्भावो वासनाया इति स्फुटम् ॥२८॥
वासनाता (नातो) न तज्ज्ञानं सन्तानादिति चेन्न न ।
तज्ज्ञाने हि क्वचिज्जाते सन्तानस्तत्र तत्क्वचित् ॥२९॥
तज्ज्ञानस्य क्वचिद् दृष्टे नान्योन्याश्रयदूषणम् ।
इति चेद् दृष्टमिष्टं [हि चान्योन्याश्रय]दूषणम् ॥३०॥
वीजाङ्कुरादिवत्सः स्यात्प्रवन्धोऽनादिरित्यसत् ।
स्याद्भेदोऽत्र चास्तीति न दृष्टान्तोऽन्यवादिनाम् ॥३१॥
कार्य-कारण-मात्रेण सन्तानस्य प्रकल्पनम् ।
जनकात्मजयोश्च स्याद्बुद्ध-संसारिणोरपि ॥३२॥
कार्ये कारणरूपत्वमस्त्येव हि तयोरपि ।
देहिनां बुद्धवेदित्वात्ते कार्यं स हि कारणम् ॥३३॥
विपयोऽकारण नेति बौद्धानां ह्याभिवाञ्छितः ।
सादृश्यादेरसत्त्वं चेद्दत्तमत्र सदुत्तरम् ॥३४॥
यथैकार्थक्रिया-हेतुः सन्तानस्तौ तथा न चेत् ।
तयोः सन्तानतायां किं तत्क्रियाऽत्र न सम्भवेत् ॥३५॥
कार्य-कारण-रूपत्वेऽप्यनयोः सन्ततिर्न चेत् ।
सन्तानाभाव एव स्यान्निमित्तान्तर-हानितः ॥३६॥
सन्तानत्व-निमित्तं हि कार्य कारण-मात्रकम् ।
तस्मिन्नपि न तत्त्व चेत्तत्किमन्यत्र सम्भवेत् ॥३७॥
स्याद्धि लक्षणयुक्तेऽपि बाधे लक्षणदूषणम् ।
तन्न स्यात्सन्ततिः क्वापि भेद-नाशित्व-साम्यतः ॥३८॥
तस्यां चेत्तदसाम्यं स्याद्भवेत्स्यान्नाशि-भिन्नता ।
न हि स्वस्य स्वतोऽसाम्यं साम्यासाम्यं हि भेदिनोः ॥३९॥

नाध्यक्षमिह युक्तिः स्याद्वस्तुन्येवाऽस्य[1] सम्भवात् ।
अवस्तुन्यप्यपोहे चेत्कल्पनात्वान्न तत्प्रमा ॥ ५ ॥

विकल्पापोहसामान्यगृहीतावासनोद्भवः ।
वस्तुन्यभेदसादृश्यकल्पनात्मेति पोषणात ॥ ६ ॥

युक्तिश्चेदनुमानो (माऽन्यो)ऽन्यसंश्रयः सा हि सिद्ध्यति ।
अपोहसिद्धसाध्यादिधर्मभेदं तथैव सः ॥ ७ ॥

विकल्पो नाऽत्र युक्तिः स्याद्बाह्ये सत्येव न ह्ययम् ।
वर्तते यदि वर्तेत किं न प्रत्ययवत्प्रमा ॥ ८ ॥

बाह्यत्व-विद्यमानत्वव्यतिरिक्तान्वितत्वतः ।
व्यतिरिक्तेऽपि तद्रूपविदेव हि विकल्पधीः ॥ ९ ॥

तया सिद्धादपोहाच्च धर्मभेदो न वस्तुषु ।
तस्य वस्तुष्वसद्भावात्कल्पनारोपितात्मनः ॥ १० ॥

एकत्वाध्यवसायाच्चेदस्तु वस्तुषु सम्भवः ।
नैकत्वस्याऽप्यसद्भावात्तेष्वारोपितरूपिणः ॥ ११ ॥

तस्याऽप्येकत्व-निर्णीतेरन्यतस्तत्र सम्भवे ।
अनवस्था ततो युक्तिरपोहेन विकल्पधीः ॥ १२ ॥

किञ्चैकत्वसमारोपाद्धर्मभेदेऽपि वास्तवे ।
किन्नारोपितवह्नित्वाद्दाहो माणवकादपि ॥ १३ ॥

किञ्च प्रत्यक्षमन्यद्वा नैकत्वाध्यवसायकृत् ।
सत्येतरार्थयोर्वृत्ति· प्रत्यक्षादेर्न हीष्यते ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षं खलु सत्ये स्यादसत्येऽर्थेऽनुमादिकम् ।
न चैकार्थविदा शक्यं द्विष्ठमेकत्वकल्पनम् ॥ १५ ॥

---

१ प्रत्यक्षस्य ।

नापोहमात्रं तद्धेतुस्तद्विशेषः स नेह चेत् ।
किमवस्तुन्यपोहे स्याद्विशेषो वस्तुसम्भवः ॥ २८ ॥

तत्तयोरपि सादृश्यं भवत्येवं ततो भवेत् ।
तत्रैकमिति धीर्यद्वत्पूर्वापरवटक्षणे ॥ २९ ॥

एकार्थक··· ··· ···रयम् ।
नास्त्येकत्वसमारोप इत्युक्तिः प्राङ्निरूपिता ॥ ३० ॥

किञ्च कर्काद्यपोहश्चेदसमः खण्ड-मुण्डयोः ।
समानप्रत्ययो नास्मात्समश्चेत्स्वमतच्युति. ॥३१॥

ततोऽसङ्करभावेन वस्तुन·-प्रतिपत्तये ।
तिर्यगूर्ध्वगसामान्यात् [समानप्रत्ययो भवेत्] ॥ ३२ ॥

व्यावृत्त्यैकस्वभावत्वे सा स्वतोऽपीति शून्यता ।
स्वस्वरूपादि यन्नो चेन्न भवेत्तत्स्वभावता ॥३३॥

व्यावृत्ति(त्ती)नां स्वतो भेदे भवेत्तासां च वस्तुना ।
न ह्यवस्तुनि नीरूपे स्वस्वरूपेण भिन्नता ॥३४॥

ततो नानात्मकं वस्तु व्यावर्त्या त(त्त ?)दभिदेति चेत् ।
··· ··· 'नित्यादे' स्यात्ततोऽभिदा ॥ ३५ ॥

नित्यादेः कल्पितत्वं चेत्स्यादन्योन्यसमाश्रयः ।
नित्यादौ सत्यनित्यादि·-तस्मिन्नित्यादिरित्ययम् ॥३६॥

बुद्धौ भेदावभासेन नित्यादेश्चेद्भिदा तथा ।
अन्यत्राऽपीति तद्भेदो न स्याद्व्यावर्त(र्त्य)भेदतः ॥ ३७ ॥

व्यावर्ता(र्त्या)त्तद्भिदा [भेदश्चिदचि]द्वस्तुव्यवस्थिति· ।
अचिदेव हि चिच्च स्याद्व्यावृत्तेश्चेतनान्तरात् ॥ ३८ ॥

अचिदन्या चिदित्येवमादौ मच्चेतितं तत. ।
चिदन्तरं च चिच्चेत्स्यादत्राऽप्यन्योन्यसंश्रयः ॥ ३९ ॥

दानादिसहकृद्युक्ता चेत्ता चाय न नस्य तैः ।
नो चेदतिशयो धा(याधा)[नं कथ स्याद्दा]निता च तत् ॥५२॥

विनाऽप्यतिशयाधानं चित्तात्तत्सहितादयम् ।
नियमश्चेत्तथा किं न नित्यादर्थक्रिया भवेत् ॥ ५३ ॥

प्रकृत्या नियमोऽयं चेच्चिच्चैवं भूत-संहृतेः ।
प्रकृत्यैव विजातीयकार्यस्यापि हि सम्भवः ॥ ५४ ॥

स्वालक्षण्यातिरिक्तं चेच्चिदचित्वं स्वलक्षणे ।
[भूतिसंहृतिर]त्र स्यादन्यथा सा हि शब्दतः ॥ ५५ ॥

व्यावृत्त्या चिदचित्वं च वास्तवं किमवास्तवम् ।
पूर्वं चेत्स्यादनेकान्तः परं चेदुभयं समम् ॥ ५६ ॥

तथा स्याच्चेदुपादानमचिच्चे त मतान्तरम् ।
ततश्चिच्चित एव स्यादित्ययं नियमोऽपि न ॥ ५७ ॥

दातुरेव ततः स्वर्गो [नास्याप्यस्ति नि]यामकम् ।
न व्यावृत्त्यादिनाऽप्येष नियमो मानगोचरः ॥ ५८ ॥

न हि संसारिणां मानान्नियमे(मो) दृश्यतेऽधुना ।
बौद्धागमस्तु मानं न मान-द्वैविध्य-हानितः ॥ ५९ ॥

अनुमानात्मकः सोऽपि मानं चेल्लिङ्गमात्रकम् ।
न हि तन्नियमे किंचिदविनाभावि [साधनम्] ॥ ६० ॥

अनुमान तु लिङ्गार्थं तल्लिङ्गं च त्रिधा मतम् ।
कार्यलिङ्गं तु नाऽत्रास्ति कार्यस्यैवाविनिश्चयात् ॥ ६१ ॥

कार्यकारणयोर्यस्मान्नैरंश्ये नियतिक्षयः ।
भावस्यैवाऽत्र साध्यत्वात्तन्न चानुपलम्भनम् ॥ ६२ ॥

स्वभावाख्यं च वस्तुत्वे साध्यसाधन[धर्मयोः] ।
व्यावृत्त्या तदयुक्तत्वात्तथा चैकमनेकधा ॥ ६३ ॥

[४. क्रमानेकान्त-सिद्धिः]

पूर्वापरेषु चित्तेषु नैकत्वं चेत्तदा कथम् ।
सन्ता[नो हि भवेत्तत्र ततः] कर्तुः फलात्ययः ॥ १ ॥

कारणान्यत्वतोऽस्य चेज्जनकात्मजयोर्भवेत् ।
उपादानान्यभावाच्चेत्स च किं न तयोरपि ॥ २ ॥

सर्वथाऽन्योन्यभिन्नानां चित्तानामेव सम्भवत् ।
तद्भावः स तयोश्च स्यात्स्यादभेदे हि जैनता ॥ ३ ॥

सादृश्यभावतस्तत्र तद्भावो यदि ने[ष्यते] ।
[तद्भावो न तदा तत्र सा]दृश्ये हि विनश्यति ॥ ४ ॥

देश-कालकृतं तत्र नैरन्तर्यं न चेदसत् ।
न हि स्वलक्षणाद्भिन्नो देशादिः सौगते मते ॥ ५ ॥

तस्मादेकान्त-भेदेऽपि कार्य-कारणरूपतः ।
तयोस्तद्भावसिद्धयै स्यादेकसन्तानताऽपि च ॥ ६ ॥

यत्र सत्त्वोपलम्भः स्यात्सन्तानस्तत्र चेद[मत्] ।
.... नैरन्तर्यादिना परः ॥ ७ ॥

किं चाभिमत-सन्ताने सादृश्यादेश्च सम्भवः ।
कार्य-कारणभावाभ्यामेव स्यात्स तयोर्न किम् ॥ ८ ॥

सोऽहमित्येकविज्ञानादेकसन्तानतेष्यते ।
तज्ज्ञानं तु तयोर्नास्ति पृथगेव तदीक्षणात् ॥ ९ ॥

इति चेत्सर्वथा भेदे कार्यान्यत्वे [तयोरपि] ।
[तज्ज्ञान न भवे]त्कस्माद्यतो नियतसन्ततिः ॥ १० ॥

एकत्व वासना-दार्ढ्यान्न(न्न) तज्ज्ञान क्वचिद्भवेत् ।
क्वाचित्के सति तज्ज्ञाने सा स्यात्तस्यां हि तत्क्वचित् ॥ ११ ॥

प्रागसत्सत्पुनश्चेत्स्यात्क्षणिकत्वं विनश्यति ।
पौर्वापर्ये हि सत्येव वस्तुनस्तद्द्वयं भवेत् ॥ २४ ॥

नैवं स्याद्वादिनां दोषः [सदसद्द्रव्यभा]वतः ।
व्यक्त्यात्मना ह्यसत्पूर्वं सद्विपक्षात्तदात्मना ॥ २५ ॥

चैत्रैकज्ञानवच्चित्रे क्रमेणाऽपि च वस्तुना(नः) ।
कार्यकारणतेष्टा तैस्तथा निर्बाधबोधतः ॥ २६ ॥

व्यक्तिरूपं न चेत्पूर्वं तच्छक्तेरेव भावतः ।
तथाऽप्यनित्यतैव स्यादभेदे शक्ति-तद्वतोः ॥ २७ ॥

भेदाभेदेऽप्यभेदस्य स[त्व हि स्यादनित्य]ता ।
पर्यायस्यैव युक्ता स्याद्भेदैकान्ते हि युक्तता ॥ २८ ॥

इति चेन्न तथाऽनिष्टेर्नष्टानष्टत्वदर्शनात् ।
द्रव्य-पर्यायतैकस्य वस्तुनो ह्यत्र सम्मता ॥ २९ ॥

नष्टमेव ह्यनष्टं च तथा निर्बाधबोधतः ।
तत्तत्स्थैर्येतरात्मत्वाद्द्रव्य-पर्यायतेष्यते ॥ ३० ॥

[द्रव्यपर्यायतै]कस्मिन्न स्यात्तद्धि द्वयोर्यदि ।
द्वित्वं च स्यान्नयोद्धाराद् द्रव्यं पर्याय इत्यतः ॥ ३१ ॥

द्रव्याविनाशे पर्याया नाशिनः किं तदात्मकाः ।
नष्टाः पर्यायरूपेण नो चेद्द्रव्य-स्वभावतः ॥ ३२ ॥

किमन्यरूपता तेषां न चेन्नाशस्तदा कथम् ।
इत्यादिबौद्धवाङ्मौढ्यादज्ञाते [न विकल्पनम्] ॥ ३३ ॥

ततः स्यात्कार्यकारित्वं स्याद्वादे युक्ति-भूषितम् ।
क्षणिकैकान्ते तु नैव स्यादुक्त-दूषण-सम्भवात् ॥ ३४ ॥

किञ्च क्षणिकतः कार्ये नानाशक्त्यात्मकं च तत् ।
उपादानं स्वकार्ये हि परत्र सहकार्यपि ॥ ३५ ॥

इत्यसारं, तथात्वेऽपि कां(का) [लं] चापेक्ष्य कार्यकृत् ।
प्रतिपक्षाव्युदासेन न च पक्षव्यवस्थिति. ॥ ४६ ॥

तद्द्वयोरप्य [भेदः स्यादप्राक्तनो] त्तरभावतः ।
किञ्चात्रैकमुपादानं सहकार्येव वा भवेत् ॥ ४७ ॥

रूपाद्यन्यतमं च स्यात्तस्मादेवं च सांशता ।
पूर्वापरत्वमात्रेण नियतेनात्र कल्प्यते ॥ ४८ ॥

कार्यकारणरूपत्वं बीजाङ्कुरवदित्यसत् ।
निरंशे नियमाभावः प्रागेव [प्रतिषेधितः] ॥ ४९ ॥

बीजाङ्कुराद्यसाङ्कर्यं सांशेऽर्थे शक्यशक्तित. ।
हेतोः सकृदनेकान्ते सांशत्वं च समर्थितम् ॥ ५० ॥

न च पूर्वापरीभावनियमे मानमित्यपि ।
एकान्तक्षणिकं वस्तु तन्नास्त्यर्थक्रियाऽत्ययात् ॥ ५१ ॥
क(ख)रशृङ्गवदित्येवं तदेकान्तो निरा[कृतः] ।
.... हानौ व्याप्यक्षणिक-हानितः॥ ५२ ॥

नित्यवत्तदभावाद्धि नित्याभावोऽपि सम्मतः ।
ततः सन्तान-सादृश्य-साध्य-साधन-तत्क्रियाः ॥ ५३ ॥

तासां च कल्पका बोधा न स्युः क्षणिकवादिनाम् ।
अन्यथानुपपत्त्या च स्मृत्यादेः स्यादभिन्नता ॥ ५४ ॥

न हि [स्यादेकताऽभावे बौद्धानां] स्मरणादिकम् ।
एकसन्तानचित्तेषु पूवपूर्वप्रवर्तिते ॥ ५५ ॥

उत्तरस्यैव तद्द्रष्टेः स्याद्भेदोऽस्तु [हि] सन्ततौ ।
न स्यात्सन्तत्यभेदेऽपि विस्मृतिश्चेत्स्मृतिः कथम् ॥ ५६ ॥

भेदैकान्ते, ततो युक्तं तद्द्वयं स्यादभेदतः ।
वासनातः स्मृतिश्चेत्साऽनित्ये(त्यै)व स्यान्न चापरा ॥ ५७ ॥

न वहिर्गमकत्वं हि वहिस्सत्त्व इवासतः ।
वहिरन्वयिनो व्याप्तिः साध्येन सुखनिश्चया ॥ ७० ॥
नान्यस्य तत्तयोर्नैव तुल्या गमकतेत्यसत् ।
सा न यस्य च दृष्टान्त एव चेद्व्याप्तिनिश्चयः ॥ ७१ ॥
व्यर्थेयं साध्यनिर्णीतिर्दृष्टान्ते [हि दृष्टान्त]रात् ।
तद्विनिश्चयतस्तत्र साध्यनिर्णीतिकल्पने ॥ ७२ ॥
तद्विनिश्चयतः सा स्यात्तस्याः स इति दूरणात् ।
दृष्टान्तेऽप्यन्यदृष्टान्ते यदि व(त)न्निर्णयस्तदा ॥ ७३ ॥
तत्रापि चान्यतस्तत्राऽप्यन्यतश्चेति न स्थितिः ।
साकल्ये वै(नैव) दृष्टान्ते यदि तन्निर्णयः स वै ॥ ७४ ॥
पक्षेऽप्यवश्यं [खलु स्यात् दृष्टान्ते] न हि सोऽन्यथा ।
तस्मादवश्यंभावित्वादन्तर्व्याप्तिस्तथैव च ॥ ७५ ॥
सान्वये गमकत्वाच्च परत्राऽपि तथैव तत् ।
अन्तरप्यवसायश्चेद्व्याप्तेः स्यादनुमा वृथा ॥ ७६ ॥
तस्मादेव प्रसिद्धत्वात्साध्यस्यापीति चेदसत् ।
द्वय-स्वरूप-ग्रहणे सति सम्बन्ध-वेदनम् ॥ ७७ ॥
इति ब्रुवा[णस्य सोऽय]दोषः स्याद्वादिनां तु नः (न) ।
तथोपपत्तिरेवेयमन्यथानुपपन्नता ॥ ७८ ॥
सा च हेतोः स्वरूपं तत् ह्यन्तर्व्याप्तिश्च विद्धि नः ।
सामग्री-विकलत्वेन सङ्केतरहितो न ताम् ॥ ७९ ॥
वेत्तैव हेतुदृष्टा च क्षणिकत्वादिकं यथा ? ।
किञ्चोहात् साध्यमात्रस्य वित्तिः स्यादनुमानतः ॥ ८० ॥
[व्याप्ति ?]काल-विशिष्टस्य तस्येति सफलाऽनुमा ।
अपि च व्याप्ति-काले हि साध्यधर्मस्य निर्णयः ॥ ८१ ॥

[५. भोक्तृत्वाभाव-सिद्धिः]

[नित्यैकान्तो न योग]योऽयं कर्तुर्भोक्तृत्वहानितः।
कर्तृत्वे सत्यभोक्तृत्वादस्मिन् कर्तृत्व-हानितः॥ १॥
कर्तृत्वमपहायैव भोक्तृत्वं स्यादनित्यता।
कर्तृत्वादेरभिन्नत्वाद्भिन्नत्वे नात्मनो हि तत्॥ २॥
कर्तृत्वादेश्च बुद्ध्यादेरिव सम्बन्ध आत्मना।
समवायस्ततस्तस्य स्यादात्मी[यत्व चेत्य]मत्॥ ३॥
असिद्धेः समवायस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणतः।
न ह्यस्याध्यक्षवेद्यत्वं विवादस्यैव दर्शनात्॥ ४॥
निर्णयैकत्वरूपं हि प्रत्यक्षं न्यायवेदिनाम्।
निर्णीतेऽपि विवादश्चेत् गुण्यादावपि किं न सः॥ ५॥
विवादो यदि तत्राऽपि विभ्रमैकान्तस[भवात्]।
[चेत्तस्या]निर्णयात्मत्व न च ज्ञानस्य सम्मतम्॥ ६॥
न चानिर्णीतसिद्धत्वं[1] ज्ञानाद्वैतादिवद्भवेत्।
नागमाच्चास्य[2] सिद्धत्वं तत्प्रामाण्ये विवादतः॥ ७॥
इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका।
बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत्॥ ८॥
इत्य[सद्वन-चूतादि-बुद्धि]तो व्यभिचारतः।
वने चूत इहेत्यादौ सम्बन्धोऽन्यो हि नेष्यते॥ ९॥
समवायाख्यसम्बन्धो न ह्यस्ति वन-चूतयोः।
गुणः(ण)गुण्यादिवत्तत्र न ह्यस्त्ययुतसिद्धिता॥ १०॥

१ समवायस्य। २ समवायस्य।

बुद्ध्याद्याधारता मुक्तेऽप्यात्मव्यापित्वतः समा ।
ततो बुद्ध्यादिसम्बन्धः स्यात्तस्याऽप्यविशेषतः ॥ २३ ॥

अमुक्तप्रभवत्वं स्याद्विशेषोऽत्रेति चेदसत् ।
मुक्त-प्रभवता किं न बु[द्ध्यादेरविशेष]तः ॥ २४ ॥

बुद्ध्याद्या(देः) कारकत्वं हि मुक्ताऽमुक्तात्मनोः समम् ।
अन्यथा प्रागकुर्वत्वकुर्वत्वां (तां) नित्यता-क्षयात् ॥ २५ ॥

अमुक्त-समवेतत्वात्स्यात्तत्प्रभवेत्यसत् ।
तस्य सत्समवेतत्वे सा स्यात्तस्या हि तद्भवेत् ॥ २६ ॥

अमुक्तात्मन्यदृष्टादेः सत्वाद्बुद्ध्यादिरत्र चेत् ।
मुक्तेऽपि [स्याददृष्टादि]सम्बन्धस्याविशेषतः ॥ २७ ॥

संयोगोऽन्योपि सम्बन्धो ह्यदृष्टाद्यैस्तयोः समः ।
समः स्वस्वामिसम्बन्धमात्र चानुपकारतः ॥ २८ ॥

उपकारोऽपि भिन्नश्चेत्सम्बन्धोऽन्येन न स्थितिः ।
उपकारान्तराक्षेपादभेदे नाऽऽत्म-नित्यता ॥ २९ ॥

मुक्तस्य तु न योग्य[त्वमभिन्ने] करणे यदि ।
तन्नाशात्तदनित्यत्वमभेदाद्धे ददूषणात् ॥ ३० ॥

तस्मादतिप्रसङ्गस्य(स्या)परिहारः प्रागुदीरितः ।
आत्म-बुद्ध्योरभेदादिविधिः स्यात्समवायतः ॥ ३१ ॥

तदभ्युपगमे तु स्यात्प्रागुक्तं दूषणं ततः ।
धर्मकर्तुः फलाभावो नित्या(त्यैकान्त)वा''क्तितः(प्रवादिनः)।३२।

इति नित्यवादिनं प्रति धर्मकर्तु-
र्भोक्तृत्वाभाव-सिद्धिः ॥५॥

देहस्यानादिता न स्यादेतस्यां च प्रमाऽन्ययात् ।
सोपायो यदि वक्ता स्यादयमेवाऽस्तु सर्ववित् ॥ १२ ॥

निरुपायोऽस्ति सोपायाद् द्वेधाद्वा तस्य सिद्धितः ।
इत्यस[त्तस्य दुष्टात्वान्] नित्यैकान्तवदप्रमा ॥ १३ ॥

नित्यैकान्तस्य दुष्टत्व प्रागेव च निरूपितम् ।
एकं शास्त्र क्वचिन्मानं क्वचिन्नेत्यनिबन्धनम् ॥ १४ ॥

निरुपायो न वक्ता चेत्सोपायो नानुपायतः ।
आगमोक्त उपायस्य(श्चेत्)नाऽऽगमो वक्तृ-हानि च (नितः)॥१५॥

सोपायानां[तदीशो हि ना]गमस्योपदेशकः ।
निरुपायो न वैयर्थ्यात्प्रमा-हानेश्च साधनात् ॥ १६ ॥

किञ्च वेद-प्रमाणं न विरुद्धार्थावबोधनात् ।
एकान्ताभेद-भेदौ हि तत्रोक्तौ सर्व-वस्तुन ॥ १७ ॥

तथा सर्वविदस्तीति स नास्तीति च चर्चितम् ।
हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ इत्यादेर्वे[दवाक्यतः] ॥ १८ ॥

नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा ।
भट्टप्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम् ॥ १९ ॥

अर्थवादत्वमेकस्य तद्वाक्यस्येति चेदिदम् ।
कुतो ज्ञातं न वेदात्स्यात्सर्वार्थ-प्रतिपादनात् ॥ २० ॥

सव्याख्यानां न(तान्न) वेदाच्च नियतार्थ-विनिश्चयः ।
[तद्व्याख्यानस्य] बाहुल्याद्भिन्नार्थ-प्रतिवा(पा)दिनः ॥ २१ ॥

ततः प्रमाण-वैकल्याददेहो देहवानपि ।
निरुपायो न सर्वज्ञः सोपायोऽप्युक्तदूषणः ॥ २२ ॥

इति नित्यैकान्तप्रमाणे सर्वज्ञाभाव सिद्धि. ॥६॥

आत्मदृष्टानुकूल्ये ....चेत्परवानयम् ।
स्यादज्ञो वाऽन्यथा ज्ञात्वा स्व-बाधान्को विधित्सति ॥ ९ ॥
ततः सर्वज्ञ एव स्याज्जगत्कर्तेति बुद्धितः ।
तत्कर्तृसाधनायोक्तं मान(न)किञ्चिज्ञसाधनम् ॥ १० ॥
तच्चेदं स्यान्महीध्रादि बुद्धिमद्धेतुक, यथा ।
कुम्भाद्यचिदुपादानात्कार्यत्वाद्वा भ[वे]रि(दि)ति ॥ ११ ॥
किञ्चिज्ञश्च भवेन्नैव जगत्कर्ताऽस्मदादिवत् ।
ततोऽयं कर्तृवादी स्यात्स्ववधाय कृतोद्यमः ॥ १२ ॥
स्व-परद्रोहिदैत्यानां सृष्ट्यभ्युपगमान्नतु ।
कर्तुः किञ्चिज्ञता सिद्धा तत्किं नाऽयं सुबो(बा)धकः ॥ १३ ॥
दैत्यस्यादृष्टतः सृष्टौ परवानज्ञ एव वा ।
दैत्याऽदृष्ट-द्वयोः सृष्टौ मिथो स्याद्व्यभिचारिता ॥ १४ ॥
अतत्कार्यसुरादौ च कार्यत्वादेर्विलोकनात् ।
अदृष्टं स्यादपूर्वादि चिदुपादानमित्यसत् ॥ १५ ॥
अदृष्टं चाचिदुत्पन्नं मोहकृत्वात्पु(त्सु)रादिवत् ।
मोहः सुरादितो दृष्टो ह्यदृष्टश्च तदत्यये ॥ १६ ॥
ततोऽचिदाऽत्र दृष्टेयमन्वय-व्यतिरेकता ।
मोहस्येत्यचिदेवेदं दृष्टं मोहकृतेरिति ॥ १७ ॥
तया[1] कारण-कार्यत्वं धूम-वह्न्यादिपूच्यते ।
अनित्यत्वाददृष्टस्य कार्यत्वमविवादतः ॥ १८ ॥
हेतु-द्वयं च दैत्याङ्गे ततः स्याद्व्यभिचारिता ।
आत्मस्वाकाश-कालादेरेव यस्मादकार्यता ॥ १९ ॥

---

१ अन्वयव्यतिरेकतया, 'अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्य-कारणभावः' इत्यर्थः ।

वीतरागस्य नेच्छाऽस्ति कथं स्याद्वक्तृतेत्यसत् ।
न हि स्या[1]त्तया[2],स्याच्चेत्, तयाऽ[3]ज्ञस्याऽस्तु शास्त्रवाक् ।।८।।
[4]तदिच्छायामवक्तृत्वाद्, गोत्र [प्र]स्खलनादिषु ।
तदभावेऽपि वाग्दृष्टे[5](ष्टा), सा पुंज्ञानात्, न चेच्छया ।।९।।
सार्वज्ञ-सहजेच्छा तु विरागेऽप्यस्ति, सा हि न ।
रागाद्युपहता, तस्माद्भवेद्वक्तैव सर्ववित् ।। १० ।।
पुरुष[त्वादि]हेतुश्च नैव सर्वज्ञ-बाधकः ।
जैमिन्यादौ च तद्दृष्टेर्विरोधाभाव-निश्चयात् ।। ११ ।।
किञ्चिज्ज्ञे तद्दृशिश्चेत्स्यात्सर्वज्ञेऽप्यविरोधत ।
विरोधो ह्यल्पयोश्च स्यादल्पो दीपान्धकारवत् ।। १२ ।।
वेद-वाक्यं प्रमाणं न विरुद्धार्थावबोधनात् ।
उन्मत्त-वाक्यवत्तन्न भेदाभेदौ विरोधिनौ ।। १३ ।।
अर्थवादत्वमेकस्येत्येतत्प्रागेव दूषितम् ।
तन्न वेदान्न[1] तद्बाधस्तत्सर्वज्ञोऽस्त्यबाधतः ।। १४ ।।
एवं सार्वज्ञ्य-सद्भावाद्भगवत्यर्हति स्फुटम् ।
अन्येष्वसम्भवाच्च स्यात्स चोपास्य इति स्थितम् ।। १५ ।।
अपि चातीन्द्रियार्थत्वे पुंवाक्यत्वान्न हि प्रमा ।
अर्हद्वाक्यं यथा बुद्धवाक्यमित्यपि दुर्मतम् ।। १६ ।।
ऐन्द्रियार्थे हि वाग्दृष्टा दोषैर्णैवाप्रमाऽन्यथा[6] ।
आप्तवाक् चाप्रमा स्यात्तत्सा [7]परोक्षेऽपि तेन सा ।। १७ ।।

---

१ वक्तृता इति शेषः । २ इच्छया । ३ इच्छया । ४ अज्ञस्य । ५ सर्वज्ञे
६ प्रमा च गुणैनैव । ७ अतीन्द्रियेऽर्थे ।

कुञ्चिकाविव चोत्पन्न-मिथ्या-मणि-धिया कथम् ।
मणिर्लभ्यते चेन्नैवं तल्लाभो न हि तद्धिया ॥ ५ ॥

गृहान्तर्मणिमध्यक्षात्पश्यतो मणि-लाभतः ।
तन्निमित्तं तु मिथ्यादिस्तन्नेष्टाप्तिरमानतः ॥ ६ ॥

साध्यते विभ्रमैकान्तस्तदन्योपाय-हानितः ।
पा[रि]शेष्याच्च न [मानं स्याद्वि]भ्रमनिषेधने ॥ ७ ॥

इति चेत्तद्द्वय च स्यान्ना(न्मा)नमिष्ट प्रसाधने ।
अमानादनुपायादेरसाध्य. किमविभ्रम. ॥ ८ ॥

ततो यथाऽविनाभावः प्रमाणास्तित्व-साधने ।
अदृष्टान्तेऽपि निर्णीतस्तथा स्यादन्य-हेतुषु ॥ ९ ॥

दृष्टान्त-रहिते कस्मादविनाभावनि[र्णय] ।
[अ]न्यत्र ज्ञात सम्बन्ध-साध्य-साधनयोर्भवेत् ॥ १० ॥

इति चेत्पक्ष एव स्यादविनाभाव-निर्णयः ।
विपक्षो(क्षे) बाध-सामर्थ्यात्तर्काच्चास्य विनिश्चयः ॥ ११ ॥

पक्षे तन्निर्णयो न स्यात्साध्यस्याप्रतिपत्तितः ।
साध्य-साधनवित्तौ हि पक्षे तन्निर्णयो भवेत् ॥ १२ ॥

अथ साध्यपरि[च्छेदस्तर्का]दन्यत एव वा ।
सिद्धमेव भवेत्साध्यं तत्सिद्धयर्थानुमा वृथा ॥ १३ ॥

इति चेदविनाभावः साध्य(ध्या)ज्ञानेऽपि गम्यते ।
तस्य हेतोः स्वरूपत्वात्सामग्रीतोऽस्य निर्णयः ॥ १४ ॥

तदभावे त्वनिर्णीतिः क्षणिकत्वादिवद्भवेत् ।
ततोऽनुमापि ना सा)र्था स्यात्तया साध्यस्य [बोध]तः ॥१५॥

अथवा, साध्य-सामान्य-वित्तर्कस्तद्विशेषव(वि)त् ।
अनुमाहेतुना व्याप्तिस्तत्सामान्यस्य हीष्यते ॥ १६ ॥

पौरुषेयो भवेद्वेदो वर्ण-वाक्यात्मकत्वतः ।
भारतादिवदित्येवमनुमानस्य दर्शनात् ॥ ३ ॥

वेदे वर्णस्य वर्णानामभिव्यक्तिक्रमस्य च ।
नित्यताऽन्यत्र वर्णानामेक-वक्तृ-स्मृतेर्यदि ॥ ४ ॥

न च वर्णस्य नित्यत्वं देश-कालादिभेदिनः ।
तस्यैव प्रतिपन्नत्वात्घटादेरिव सर्वथा ॥ ५ ॥

स एवायमकारादिरित्यादिप्रत्ययोऽपि वै ।
सादृश्यात्स्यादभेदाच्चेदात्माद्वैतश्च सम्भवेत् ॥ ६ ॥

सैवेयं स्यादहंबुद्धिरिति प्रत्ययभावतः ।
साध्यते तच्च नाभेदप्रत्ययाद्भेदविभ्रमात् ॥ ७ ॥

भ्रान्तेयं प्रत्यभिज्ञा स्यादात्म-भेदस्य दर्शनात् ।
अभेदे सुख-दुःखादेः प्रत्यात्मो(त्म ?)नियतिः कथम् ॥ ८ ॥

इति चेत्किं न वर्णेषु भ्रान्तौ सा तुल्यदोषतः ।
उदात्तान्यादिभेदो हि सर्वस्तत्र च वीक्ष्यते ॥ ९ ॥

अभिव्यञ्जक-वाय्वादेर्भेदाद्भेदोऽत्र चेदयम् ।
उपाधिभेदतोऽभीष्टा सुखादेर्नियतिः परैः ॥ १० ॥

प्रदेशाद्यै रखण्डस्य नित्यशुद्धस्य चात्मनः ।
व्यापिनोऽन्यैर्न भेदश्चेत्तादृग्वर्णेष्वयं कथम् ॥ ११ ॥

ततः स्यात्प्रत्यभिज्ञानाद्दोष-साम्याच्च सर्वथा ।
वर्ण-नित्यत्वसिद्धिश्चेदात्माद्वैतस्य च स्थितिः ॥ १२ ॥

वाच्य-वाचकसम्बन्ध-परिज्ञानं न सम्भवेत् ।
वर्णादेश्चेदनित्यत्वं सङ्केतित-वचः-क्षयात् ॥ १३ ॥

स्यादयं गौः पटोऽयं स्यादिति सङ्केतितं वचः ।
स्थायि चेत्तदनुस्मृत्या वाच्ये(च्यो)ऽर्थो हि न चान्यथा ॥१४॥

यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययन-पूर्वकम् ।
तदध्ययन वाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥ २७ ॥

इत्यस्मादनुमानात्स्याद्वेदस्यापौरुषेयता ।
ततः स्यात्पौरुषेयत्व-प्रतिज्ञाऽनेन बाधिता ॥ २८ ॥

इति चेत्स्यादयं हेतुरप्रयोजक एव वै ।
अविनाभाव-वैकल्यात्तद्भावेऽस्याप्ययं भवेत् ॥ २९ ॥

पिटकाध्ययनं सर्वं तदध्ययन-पूर्वकम् ।
तदध्ययन-वाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥ ३० ॥

अपौरुषेयता वेदे कर्तुरस्मरणाद्भवेत् ।
इति चेत्साऽनुमा व्यर्था न हि सिद्धस्य साध्यता ॥ ३१ ॥

कर्तुरस्मरणादेव सा साध्या चेत्तथा न किम् ।
बौद्धैरपि तदस्मृत्या पिटके साऽपि साध्यते ॥ ३२ ॥

बौद्धैः स्मृतोऽत्र कर्ता चेद्वेदेऽपि स्मृत एव सः ।
तैरप्यत्रास्मृतोऽयं चेदसाध्याऽपौरुषेयता ॥ ३३ ॥

श्रुतौ तत्स्मृतिरन्येषां प्रमा मा चेन्न तु प्रमा ।
तत्स्मृतिः पिटकेऽपि स्याद्बौद्धीयत्वाच्छ्रुताविव ॥ ३४ ॥

पिटके तत्स्मृतिश्चेत्स्यात्प्रमा प्रामाण्यमप्यलम् ।
पिटके स्याद्धि बौद्धाना तत्स्मृतेरपि भावत ॥ ३५ ॥

प्रामाण्यं पिटके न स्याद् बौद्धस्यैवात्र तत्स्मृतेः ।
कर्तृमत्वं तु सिद्धं स्यात्परैरप्यत्र तत्स्मृते. ॥ ३६ ॥

इति चेत्कर्तृभावोऽपि तद्रस्मृत्या श्रुतौ कथम् ।
बौद्धस्य तत्स्मृतेरेव भावात्तत्कर्तृसिद्धितः ॥ ३७ ॥

ततो यथैव बौद्धानां प्रामाण्यस्मृतिरप्रमा ।
पिटके स्यात्तथा वेदेऽप्यप्रमैव तदस्मृतिः ॥ ३८ ॥

परतोऽस्य [हि] चोत्पत्तिरिन्द्रियाणामदोषतः ।
हेतोस्त्रैरूप्य-साकल्याच्छब्दस्याप्ताच्च सम्भवात् ॥ १० ॥

दोषाभावो गुणः कस्मान्नीरूपत्वतयेत्यसत् ।
त्रैरूप्याभाव एवं हि हेतुदोषो न सम्भवेत् ॥ ११ ॥

पक्षधर्मत्वमुख्यैतत्त्रैरूप्याभावतः परम् ।
दोषो नास्ति ह्यदृष्टोऽपि स्याच्चेत्स्यादिन्द्रिये गुणः ॥ १२ ॥

ततो दोषान्तरादृष्टे त्रैरूप्याभाव एव वै ।
हेतुदोषो गुणोऽप्येव स्याद्दोषाभाव इन्द्रिये ॥ १३ ॥

किञ्च स्याद्दोष एषोऽपि त्रिरूपाभाववादिनाम् ।
भिन्नो भावो ह्यभावोऽपि भेदाभेदप्रवादिनाम् ॥ १४ ॥

हेतोरपि गुणस्तस्य तत्साकल्यं न चेदिदम् ।
गुणो भवेत्स दोषोऽपि तद्वैकल्यं कथं भवेत् ॥ १५ ॥

हेतोः स्वरूपमेवेदं तत्साकल्यं यदीष्यते ।
तद्वैकल्यं न दोषः स्यात्स्वरूपाभाव एव वै ॥ १६ ॥

हेतौ तदन्यदोषोऽस्ति धीहेतुत्वात्तदक्षवत् ।
अक्षेष्वन्योऽपि दृष्टो हि काचादिरिति चेदसत् ॥ १७ ॥

अक्षेष्वन्यगुणोऽप्यस्ति धीहेतुत्वाद्यथा वचः ।
इत्यस्मादनुमानाद्धि गुणः स्यादिन्द्रियेष्वपि ॥ १८ ॥

दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं शब्दस्यागुणवत्वतः ।
उभयवादिसिद्धो हि दृष्टान्त इति चेदसत् ॥ १९ ॥

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः ।
तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ २० ॥

इति वार्तिकतः शब्दगुणवत्त्वाविवादतः ।
गुणवद्वक्तृकत्वं हि शब्दस्यात्रैव सम्मतम् ॥ २१ ॥

न चान्यद्ग्राह्यमस्त्यत्र सा स्यात्किंविषया प्रमा ।
[1]मानसं नास्तिताज्ञानं नाद्याद्युद्भवमित्यसत् ॥ ४ ॥
स्वार्थानुमानसम्भूतिर्घटादिस्मरणे भवेत् ।
हेत्वादिवचने तत्स्यात्परार्थोऽपि च साऽनुमा ॥ ५ ॥
घटादिस्मरणाभावे ग्राह्या स्यात्केवलैव भूः ।
अध्यक्षान्न निषेधो वा विधिर्वाऽस्ति घटादिषु ॥ ६ ॥
विधिमात्रग्रहेऽध्यक्षादद्वैतस्थितिरित्यसत् ।
विधावन्यनिषेधोऽपि तयोस्तादात्म्यतो भवेत् ॥ ७ ॥
निषेध्याग्रहणेऽप्यन्यनिषेधः कथमित्यसत् ।
भावाभावात्मके भावे भाववित्स्यादभाववित् ॥ ८ ॥
तदभावो घटादेश्चेत्स्यादस्याभाव इत्यसत् ।
अन्याभावो हि जातोऽस्य स्वोपादानस्य शक्तितः ॥ ९ ॥
मरीचिकाद्यभावो हि जलादिग्रहणेन चेत् ।
ग्राह्यः कथं प्रवर्त्तेत निःशङ्कस्तदपेक्षकः ॥ १० ॥
ततोऽभावप्रमा नैव तद्ग्राह्यान्तर-हानितः ।
भावाद्भिन्नो न चाभावः कार्यद्रव्यं हि नान्यथा ॥ ११ ॥
प्रागभावे स्थिते तस्य घटादेर्नेह सम्भवः ।
तदुपमर्दनतश्चेत्किं स्यात्तदुपमर्दकम् ॥ १२ ॥
तत्कार्यस्य स्वरूपं चेत्स्यादन्योन्यसमाश्रयः ।
तदुपमर्दनकार्यात्कार्यं तन्मर्दनादिति ॥ १३ ॥

---

१ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥
—मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११ ।

तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ।
इति तद्वान् विरोधश्च तन्न व्याप्तिविदक्षजम् ॥८॥

तद्विच्चेदनुमा तत्राप्यन्या तद्वित्पुनस्तथा ।
इत्येवमनवस्था वत्तद्वित्तर्क. प्रमा च सः ॥९॥

अगृहीतार्थताऽप्यस्य [नानास]कलनग्रहात् ।
नाध्यक्षादि हि नानोल्लेखात्म-सङ्कलने क्षमम् ॥१०॥

साध्य-साधनसम्बन्धस्तर्कस्य विषयः स च ।
तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धाभावात्तद्विषयः कथम् ॥११॥

असम्बद्धार्थवोधानां घटोऽभूद्विषयः, पट. ।
नैवेति, नियमायोगाद्विषय[ज्ञानयोर्ननु] ॥१२॥

इति चेद्योग्यतैवास्तु सम्बन्धो विषयेऽस्य च ।
प्रत्यक्षस्येव तस्यापि योग्यता नन्वपेक्षते ॥१३॥

अन्यथा धीर्जडाकारा किं न वेद्ये घटादिके ।
साकारज्ञानवादे हि नैरंश्या धीर्न चांशवित् ॥१४॥

रूपेणै(णे)व रसाद्यैश्च सन्निकर्षेऽपि चक्षुषः ।
रसादि किं [न वेद्यं स्याच्चक्षुषा] योग्यता-द्विषाम् ॥१५॥

किञ्चासद्ग्रहणे बुद्धेर्योग्यतैव निवन्धनम् ।
तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धो न नीरूपास(रूपाख्य)ता धियः ॥१६॥

तत्सत्यप्यन्यसम्बन्धे तदभावेऽपि योग्यता ।
अपेक्ष्येति, तया तर्के विषय-नियमो भवेत् ॥१७॥

ततस्तर्कप्रमा व्याप्तिज्ञाऽन्यथानुपपत्तितः ।
भवेत्तेनाविनाभाव-निर्णयश्चेति सुस्थितम् ॥१८॥

विपक्षे वाधनाज्ज्ञाताऽप्यन्यथानुपपन्नता ।
हेतोस्तथोपपत्तिस्तु कथं ज्ञेयेति दुर्मतम् ॥१९॥

आ····· ······· ·····नां तदात्मत्वे हि सत्ययम् ।
च्विप्रत्ययोऽन्यथा न स्यात्तथाभावोऽप्यभेदिनम् ॥८॥

पृथक्त्वाग्रहणादेव गुण-गुण्याद्यभेदधीः ।
वास्तवाभेदतो नात्र वन-सेनादिबुद्धिवत् ॥९॥

वनादेर्न ह्यभेदोऽस्ति विरलत्वस्य वीक्षणात् ।
तत्तत्राभेदधीर्न स्यात् ··· · ····· ···भेदधीः ॥१०॥

इति चेत्स्थूलधीश्चैवमणुष्वेवेति कथ्यताम् ।
बौद्धैर्वनादिदृष्टान्तादणुमात्र हि सम्मतम् ॥११॥

अतीन्द्रियत्वतोऽणूनामप्रतीतिस्ततः कथम् ।
स्थूलादिप्रतिभासोऽत्र प्रतीते(तौ) ह्यन्यथाग्रह. ॥१२॥

वनाद्यवयवा[श्चूत-शिंशपाद्यङ]घ्रिपादयः ।
दूरस्थानामिह भ्रान्तिर्युक्ता भेदाविनिश्चयात् ॥१३॥

तथा वनादिदृष्टान्तः सौगतानां न युज्यते ।
गुणाद्यभेद-विभ्रान्तौ युक्त एवेत्यसङ्गतम् ॥१४॥

न ह्येकान्तेन भिन्नत्वं गुणादीनां च तद्वतः ।
दृ[श्यते य]द्बलादत्राऽप्यभेद-भ्रान्ति-कल्पनम् ॥१५॥

ततोऽप्रतीतिरत्राऽपि समानैव तथा सति ।
अणुषु स्थूलबुद्धावप्यस्य दृष्टान्ततो भवेत् ॥१६॥

प्रधानस्थूलसापेक्षा स्थूलधीः परमाणुषु ।
स्थाणौ पुरुषधीर्यद्वदतस्मिस्तद्ग्रहत्वत. ॥१७॥

प्रधान' पुरुषो नो चेत्स्थाणौ च न हि तद्ग्रहः ।
इति गुण्यादिसिद्धेर्न स्थूलधीरणुसम्भवा ॥१८॥

इति चेद्गुण-गुण्यादावपि चैवमभेदधीः ।
न स्यादत्रापि न ह्यस्ति प्रधाना क्वाऽप्यभेदधी. ॥१९॥

एकबुद्धौ न युक्ता हि भ्रान्ताऽभ्रान्तस्वरूपता ।
विरोधादविरोधे स्यादेकस्यानेकरूपता ॥३२॥

तथा च गुण-गुण्यादेरभेदेऽप्यविरुद्धता ।
सिद्धेत्यभ्रान्तिरेवेय गुण-गुण्याद्यभेदधीः ॥३३॥

ततो हेतोश्च सिद्धत्वं, साध्ये सत्येव सम्भवात् ।
अविना[भाविनश्चे]ति नास्यासिद्ध्यादिदूषणम् ॥३४॥

दृष्टान्ते साध्य-वैकल्यमपि नैवात्र सम्भवेत् ।
संख्यावत्त्वे गुणादेश्च परेषां ह्यविवादतः ॥३५॥

द्वौ गन्धौ, षड् रसा, द्वे च सामान्ये, बह्वो मताः ।
विशेषा , समवायः स्यादेक इत्यादिदर्शनात् ॥३६॥

वास्तवी न[गुणादौ स्यात् संख्या,]सा ह्युपचारतः ।
तेषां तत्र गुणादीनां तादात्म्यं च तथेत्यसत् ॥३७॥

असतो हि समारोप उपचारस्तथा सति ।
अभाव एव संख्यायाः पृथिव्यादौ च सम्भवेत् ॥३८॥

एकत्रास्या हि भाक्तत्वे नैवान्यत्रापि सत्यता ।
निर्बाधत्वेन सत्यत्वं [सम्मतं सर्ववादिनाम्] ॥३९॥

वास्तवी चेद् गुणादौ स्यात्संख्या, स्युर्गुणिनो गुणाः ।
गुणसूत्रे[१] गुणत्वेन सख्याया पठितत्वतः ॥४०॥

गुणादेर्गुणवत्त्वं च नेष्यते न्यायवेदिभिः ।
गुणाः स्युर्निर्गुणा इ[ष्टाः शास्त्रे हि न्यायवेदिभिः] ॥४१॥

---

१ "रूपरसगन्धस्पर्शाः सख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं सयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।"—(वैशेषिकदर्शन-सूत्र १–१–६) इत्यत्र गुणप्रतिपादके सूत्रे ।

न हि स्यात्समवायेन तत्सम्बन्धः, तथा परैः ।
अनुक्तत्वाद्, गुणादौ च द्रव्यत्वस्यानुषञ्जनात् ।।५४।।
समवायाच्च(यश्च)सम्बन्धः सम्बन्धादन्यतोऽथवा[1] ।
यत्र सम्बन्धनोऽयं स्यात् [सयोगोऽपि तथा भवेत] ।।५५।।
न सम्बध्नात्यसम्बद्धः परत्रैवमदर्शनात् ।
समवेतो हि संयोगो द्रव्यसम्बन्धकृन्मत. ।।५६।।
समवायान्तरेणास्य सम्बद्धेऽप्यनवस्थितिः ।
स्वतः सम्बन्ध एवास्य सम्बन्धत्वेन चेन्मतम् ।।५७।।
यथा नान्योऽत्र सम्ब''' ' ''''' ' '''''   द्रूपतः ।
स्वरूपमेव सम्बन्धः किं नैवं धर्मतद्वतोः ।।५८।।
किञ्चान्योन्याश्रयोऽपि स्यात्स्वतः सम्बन्धकल्पने ।
तद्धि सम्बन्धतासिद्धौ साऽपि तेनापि सिद्ध्यति ।।५९।।
सम्बन्धत्व प्रतीत्यैव समवायस्य कल्प्यते ।
स्वतः सम्बन्धतो नेति [नान्योन्याश्रय] इत्यसत् ।।६०।।
अप्रतीतेरतिव्याप्तेरभेदप्रत्ययादपि ।
समवायो न तत्रास्य सम्बन्धत्व प्रतीतित. ।।६१।।
समवाये प्रतीतिश्चेदध्यक्षमविवादता ।
निर्णयैकात्मना तेन ज्ञाते मशीत्ययोगतः ।।६२।।
सविकल्पकमध्यक्षं समवाये न चेद्यदि ।
[सविकल्प]कमस्तीति समवाये प्रतीतितः ।। ६३ ।।
इत्यसन्न हि तज्ज्ञानं दृश्यते क्वापि सौगतैः ।
उत्पमानमिवाध्यक्षं जडबुद्धिवदेव वा ।।६४।।

---

१ सम्बद्धो भवति तथाचानवस्थेति भाव. ।

तदवस्था गता न स्यात्सापि निर्णीतिरित्यसत् ।
तेऽप्यविद्या'' विहा स्यु' सा ह्यविद्याऽत्र चर्चिता ॥५४॥

अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरविद्या सापि कस्य वा ।
न ब्रह्मजीवयोर्युक्ता केन तद्धानिरित्यपि ॥५५॥

परतः प्रमितत्वं चेद् ब्रह्मण. स्यादनित्यता ।
पूर्वमप्रमितस्यैव पश्चात्प्रमितता यतः ॥५६॥

तस्य प्रमितता नो चेत्तदस्तीति वचः कथम् ।
स्फुरणाच्चेत्तदर्थोऽपि न ह्यन्यस्वपरग्रहात् ॥५७॥

स्फुरणमेव चेद् ब्रह्म तदस्तीति वचः कथम् ।
स्फुरणाच्चेत्तदर्थोऽपीत्यादिचोद्ये न चक्रकम् ॥५८॥

स्फुरणं नाम भानं स्यान्न'　　　'　　　'गमिति चेद'' 'म् ।
सर्वोद्भवमिदं ब्रह्म न विवादोऽत्र कस्यचित् ॥५९॥

इत्यसन्न हि तद्भानं सर्वभेद्ये व दृश्यते ।
प्रत्यात्ममानभिन्नं हि निर्विवादं विलोक्यते ॥६०॥

उपाधिभेदतो भेदः कल्पितो नैव वास्तवः ।
न ह्याकाशस्य भेदः स्याद् घटाकाशादिभेदतः ॥६१॥

इत्यसद्भेदसंवित्तिर्भ्रान्तित्वात् कल्पिता भवेत् ।
जीवब्रह्मान्ययोर्नेति प्रा[गेव प्रति]पादनात् ॥६२॥

किञ्च कल्पित एवायं भेदस्तस्येति निश्चयः ।
मानाच्चेद् द्वैतमन्यस्मात् किन्नायं स्यादकल्पितः ॥६३॥

न ह्यप्रमाणत. सिद्धं किञ्चिदेवेति युक्तिमत् ।
तस्माद्धानस्य भेदः स्यादबोधात्तेन''''''''''॥६४॥
निर्बाधे बाधशङ्कायां ब्रह्मण्यपि '''''''''''' ''।
''''''''''''''''''''स्वपराभ्यामिति स्थितम् ॥६५॥

द्विष्ठ[त्वाच्च] हि भेदोऽयं न ह्येकस्यैव यु[ज्यते] ।
पर्वते ग्रामतो दूरे किमदूर. स पर्वतात् ॥७६॥

स्वर्णस्य रुचकादेः स्यात् तद्विनाशेऽप्यनाशत ।
भेद एव न तस्यास्माद्विना स्वर्णमतद्दृशे. ॥७७॥

इति चेत्स्वर्णतो नित्यादभिन्ना रुचकादय' ।
किं नष्टास्तेपु चेन्न .... ''नाशवत् ॥७८॥

नापि स्वर्णादिरूपस्य नाशस्तद्रूपनाशतः ।
सर्वथा न हि नाशोऽस्ति दीपो हि तिमिरात्मना ॥७९॥

मिथस्तद्द्वयभेदेऽपि न ब्रह्मपरयोरयम् ।
यतो निर्वचनीयत्वं भेदान्याभ्यां तयोः स्थितम् ॥८०॥

अविद्यत्वात्परस्येति यद्'..... '.... सति ।
न ब्रह्मनित्यनिर्मुक्तं तथा तस्याविनिश्चयात् ॥८१॥

कुतो ब्रह्मणि मुक्तत्वमनिर्णीतं तदेति चेत् ।
अविद्याख्यपराद्भेदे तस्यावाच्येऽत्र संशयात् ॥८२॥

तस्मान्निरर्थिका, ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपकम् ।
इत्यादिश्रुतिराविद्यारूपस्याप्यत्र सम्भवात् ॥८३॥

आविद्यतो हि निव' . .. ... ते ।
तद्भेदे कथं तस्य सर्वथा मुक्तिसम्भव. ॥८४॥

तन्मुक्तमेव चेद् ब्रह्म भिन्नं चाविद्यतस्तत. ।
तस्याभावो विरूपं स्यादितरेतरसंज्ञि(ज्ञ)क' ॥८५॥

तस्मिन् सति सदेकान्तरूपं ब्रह्म न सिद्ध्यति ।
तस्याभावेऽपि रूपे किं सदेकान्तस्वरूपतः ॥८६॥

तत्सदेकान्त........ ... ...च्छ्रता ।
आविद्यञ्च परं न स्या .... ॥८७॥

यत्साधकतमं तस्याः तच्च स्यात्तदभेदि वै ।
घटादिस्तत्तमं हीष्टं तदभेदि मृदादिकम् ॥१००॥
न चक्रमित्यभेदित्वमचितिश्चित्त एव हि ।
समितिर्ननु चिद्रूपा न ह्येषा स्यादचिन्मयी ॥१०१॥
किञ्च स्यात् कस्यचिद्ध्वंसो विरुद्धार्थमसौ यथा ।
प्रका·· · ·· · ····· · · ··· ······· ·· ·॥१०२॥
[प्र]मितं चक्षुषेत्यादिप्रयोगस्तूपचारतः ।
प्रमीयते गवाक्षेण खमित्यादिप्रयोगवत् ॥१०३॥
संशयादिधियो नैव सम्यग्ज्ञानत्वसम्भवः ।
तत्त्वे हि तदसम्यक्त्वं नास्त्येव न चार्थतः ॥१०४॥
ततः स्थितं प्रमा· ··· ················ ··· · ।
···· ··· ···· ····णां स्यान्नाचिदादिकमित्यपि ॥१०५॥
तथोपपत्तिरेव स्यादन्यथानुपपन्नता ।
पर्युदासनञर्थत्वादिति कस्याश्च सिद्धिता ॥१०६॥
सम्यग्ज्ञाने प्रमाणे च तज्ज्ञानं ब्रह्मणो यदि ।
स्वतो वित्तिरिति, प्राप्तं प्रागुक्तं तत्र[दूषणम्]॥१०७॥
········ · ······· ···· ···न्नो ब्रह्मणो यदि ।
भवेद् गत्यन्तराभावाद् ब्रह्मैव जीव एव वा ॥१०८॥
ब्रह्मैव चेत् सतो वित्तादुक्तदोषोऽन्य एव चेत् ।
ब्रह्मणो भाव एव स्यादिति स्यात्स्वमतच्युतिः ॥१०९॥
यद्यभेदः कथञ्चित्स्यादविद्या ·· ········ · · ··· ···।
··· ·· · · ·· ·· ··· ······ ····कथम् ॥११०॥
भिन्नः सन्नेव जीवश्चेद् द्वैतमाविद्यरूपकः ।
यद्यसौ ······· ····· ·· ·····ज्ञानसम्भव· ॥१११॥

.... ।

तत्रोक्तं दूषणं नापि प्रत्यक्षादिसदत्ययात् ॥१२४॥

प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वात् ज्ञानत्व हि तथा सति ।
तज्ज्ञान ब्रह्मणो न स्याज्जीवस्याप्युक्तदूषणात् ॥१२५॥

ततो गत्यन्तराभावे वेदात् स्याद् ब्रह्मनिर्णयः ।
आ .... ॥१२६॥

ततो ब्रह्मपरिज्ञानं वेदादुत्पत्तिमिच्छताम् ।
तद्भवेदन्यवाक्यादप्याविद्यकाविशेषतः ॥१२७॥

विशेषस्तत्र चास्त्येव कार्यभेदविलोकनात् ।
न हि मृत्यादिकं कार्यं पथ्यादि(दे)रपि दृश्यते ॥१२८॥

इति चेन्न तु तत्का . . . . ।
... . र्यभेदोऽपि युज्यते ॥१२९॥

आविद्ये शक्तिभेदश्चेत् सत्त्वमेवास्य युज्यते ।
शक्तिव्याप्तं हि सत्त्वं स्यात् तन्नाविद्यस्य शक्तता ॥१३०॥

अशक्तत्वाविशेषेऽपि वेदादाविद्यरूपतः ।
ब्रह्मज्ञानसमुत्पत्तौ साऽन्यवाक्याच्च सम्भवेत् ॥१३१॥

तथा ब्रह्मविदः..... .... ।
....भवतीति श्रुतिः........॥१३२॥

इति ब्रह्मस्वरूपस्य परेषां प्रतिपादकम् ।
व्यर्थं वेदादिशास्त्रं स्यान्न ह्यब्रह्मविदः परे ॥१३३॥

किञ्च ब्रह्मपरिज्ञाने तज्ज्ञाने ब्रह्म वा फलम् ।
यद् ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति श्रुतिः श्रुता ॥१३४॥

ब्रह्मैव यदि . ... ।
. ... रूपेण ति........ .... भवेत् ॥१३५॥

....यं निर्बाधे प्रत्ययत्वतः ।
ब्रह्मवन्न हि तत्सत्त्वे[चा]प्यन्यदनिवन्धनम् ॥१४८॥

इत्यतो भेदसत्त्वे स्याद्भ्रान्तो(न्ता)भेदधीः स्फुटम् ।
ततस्तद्भ्रान्तिविच्छेदोऽप्ययुक्तं ब्रह्मधीः फलम् ॥१४६॥

शुक्तिका रूप्यवन्मिथ्या दृश्यत्वा... . ..   ... ।
. . ..   भावहानितः ॥१५०॥

अन्यथा प्रतिभासत्वात्तद्वद्ब्रह्माप्यसद्भवेत् ।
तद्रूप्ये प्रतिभासत्वं दृश्यत्वमिव हीक्षते ॥१५१॥

निर्बाधप्रतिभासत्वं ब्रह्मणीव परत्र च ।
तन्नास्मादनुमानाच्च तद्धेतोरस्ति वाधनम् ॥१५२॥

.... ।
विश्वभेदो भवेत्तोयतरङ्गेष्विन्दुभेदवत् ॥१५३॥

यथैव तत्तरङ्गेषु चन्द्रश्चन्द्र इति स्फुटम् ।
अभेदेनानुविद्धत्वाच्चन्द्रभेदो मृषा मतः ॥१५४॥

तथा घटादिभेदोऽपि सत्सदित्याद्यभेदतः ।
अनुविद्धो मृषैवे... ... .॥१५५॥

.. .. रित्वं तद्धेतोः स्यान्निरङ्कुशम् ।
हेतु-साध्यादिधीभेदे वास्तवेऽप्यस्य दर्शनात् ॥१५६॥

धीरियं धीरियं चेति तदभेदानुविद्धता ।
तद्धीष्वपि हि दृष्टेति तद्धेतुस्तत्र चेद्यते ॥१५७॥

यद्यवास्तव एवायं तद्धीभेदोऽपि सं.......।
. ...वास्तवम् ॥१५८॥

ततो भेदाऽमृषात्वं च न भवेदेव वास्तवम् ।
न हि हेतोर्मृषात्वे स्यात्तत्कार्यं चापि वास्तवम् ॥१५६॥

· ·· ·च कार्येषु तैरेव व्यभिचारिता ।
तद्भेदासत्त्वसाध्यस्य हेतोः स्यात्सुव्यवस्थिता ॥१७२॥

विद्ययाऽविद्यया चास्य व्यभिचारस्तयोरपि ।
इयं विद्येयमन्येति किं नाभेदानुविद्धता ॥१७३॥

न हि विद्या विभिन्नेयमविद्याऽस्तीति · ···· ।
·················· · ···· ··त् त्तयात्मिका ॥१७४॥

कल्पितो यदि संसारो न तस्य ब्रह्मकल्पकम् ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः कल्पना साऽस्य किं भवेत् ॥१७५॥

प्राच्यतद्रूपसंसारः कल्पकोऽस्यापि तादृशः ।
तस्याप्येवं प्रबन्धोऽयमनादिः सैव संसृतिः ॥१७६॥

इ······ ····································· ·· ···· ।
तद्धेतोर्व्यभिचारित्वं तद्भेदस्तु वास्तवात् ॥१७७॥

तद्भेदेऽपि मृषात्वं चेत्कथं तद्रूपसंसृतिः ।
इत्यादेः पुनरावृत्तेरनवस्था महीयसी ॥१७८॥

विद्यान्तराद्धि विद्याया भेदादिरपि युज्यते ।
अविद्याया··· ·············· · ············ ॥१७९॥

अविद्याया· स्वभावो यो विद्यायाश्च स एव चेत् ।
साऽप्यविद्यैव विद्याया वार्ताऽपि क्वोपलभ्यताम् ॥१८०॥

विद्यायाश्चेत्स्वभावोऽन्यो वास्तवः परिपठ्यते ।
अविद्यातः पृथग्भावः कथमेतन्निषिध्यताम् ॥१८१॥

स्वभाव··· ······ · ·· ··· ··· · ······ ।
भावेषु यस्मात्तन्नेयं चर्चितार्था वचो गतिः ॥१८२॥

ततो वास्तव एवायं भेदो विद्याऽन्ययोस्तथा ।
व्यभिचारश्च तद्धेतोरित्यबाधैव भेदधीः ॥१८३॥

....श्च कार्यं तु न हि कारणम् ।
तथापि तद्द्वय स्यात किं न [हि]सत्त्वादिकं सकृत् ॥५॥
अन्यापोहादभीष्टश्चेद् धर्मभेदस्तथा भवेत् ।
साङ्कर्यं सर्ववस्तूनां नीरूपोऽयं हि सर्वगः ॥६॥
गौश्चेदश्वाद्यपोहात्स्यात ....।[1]

---

[1] मूडबिद्रीयजैनमठग्रन्थालयगत ६०६ संख्याङ्किते ताडपत्रीयग्रन्थे प्रस्तुत'स्याद्वादसिद्धि'ग्रन्थ. पत्रसंख्या २३६तः प्रारभ्य पत्रसंख्या २५६ पर्यन्तमपूर्ण एवोपलभ्यते । तत्र २४६ तः २५३ पर्यन्तं मध्यस्थानि सप्त पत्राणि त्रुटितान्यपि विद्यन्ते ।—सम्पादक ।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

१. स्याद्वादमञ्जरीकारिका-प्रतीकानुक्रमणी